Printed and Published

by—Shrilal Jain Kavyatirth

JAIN SIDDHANT PRAKASHAK PRESS,

9, Visvakosha Lane Baghbazar, Calcutta.

प्रकाशकीय वक्तव्य।

जैन समाजमें प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होनेकी प्रथा दिन पर दिन मंद होती जाती है लोग अपनी हठधर्मीके आवेशमें न्याय अन्याय सबको न्यायका रूप देकर करणीय समझनेमें ही चातुरी समझते हैं इसलिये ऐसे ग्रंथकी जिसमें मुनि और गृहस्थ सबको शुद्ध होनेकी पद्धतिका वर्णन है, प्रकाशित होनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। शास्त्र भंडारोंमें इस विषयका कोई हिंदी भाषामय ग्रंथ अवलोकन करनेमें नहीं आता था इसलिये 'भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था'ने अपने उद्देश्यानुसार इसको प्रकाशित किया है।

श्रीगोपाल जैनसिद्धांतविद्यालय मुरेनाके प्रधानाध्यापक पं० पन्नालालजी सोनीने इसकी हिंदी टीकाकर संस्थाको अनुगृहीत किया है इसके लिये आपको धन्यवाद है। पंडितजीने यह हिंदी वचनिका एक संस्कृत टीकाके आधारसे की है जो श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन बंबईसे प्राप्त हुई; इसलिये भवनके संचालकोंको धन्यवाद है। प्रूफ संशोधनमें यद्यपि सावधानी रखी गई है तो भी दृष्टिदोषसे अशुद्धि रह जाना बहुत

कुछ संभव है। अतः जिन महाशयोंको शब्द वा अर्थकी अशुद्धि ज्ञात हो सके वे अवश्य सूचित करनेकी कृपा करें।

आजसे लगभग दो साल पहिले इस श्रीमद्देवाधिदेव गोम्मटेश्वरके अभिषेक जलसे पवित्र होनेके लिये श्रवणबेल गोला (जैनबद्री) गये थे उस समय शोलापुर वासी श्रेष्ठिवर्य रावजी सखाराम दोशीकी अनुमतिसे आलंद (शोलापुर) वासी श्रेष्ठिवर्य माणिकचंद मोतीचन्दजीने इस ग्रंथके प्रकाशनार्थ पांचसौ रुपये इस शर्तपर देना स्वीकार किया था कि-ग्रंथ प्रकाशित होकर न्योछावर आनेबाद संस्था उन्हें रुपये वापिस भेजदे तदनुसार आपकी सहायता प्राप्तकर यह ग्रंथ प्रकाशित किया जाता है। उक्त दोनों सेठ साहबोंको कोटिशः धन्यवाद है जिससे मुनि और गृहस्थ दोनोंको अपनी अपनी शुद्धि होनेका आगमोक्त मार्ग मालूम हो जायगा और वे शुद्ध हो सकेंगे।

मिती भाद्रपद शुक्र पांचमी | निवेदक—
बृहस्पतिवार वीर सं० २४५३ | श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ

मंत्री—भा० जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था
६ विश्वकोषलेन, बाघबाजार, कलकत्ता

श्रीवीतरागाय

सनातन जैन:

२२

श्रीमद्-गुरुदासा...

प्रायश्चित्त-समुच्चय

(हिंदीटीका सह)

संयमामलसद्रत्नगंभीरोदारसागरान् ।
श्रीगुरूनादराद्वन्दे रत्नत्रयविशुद्धये ॥ १ ॥

अर्थ—जो संयमरूप निर्मल और समीचीन रत्नोंके अगाध और उदार समुद्र हैं उन श्रीअर्हन्तादि पंच गुरुओंको रत्नत्रयकी विशुद्धिके लिए भक्ति-भावसे नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ—जो जिस गुणका इच्छुक होता है वह उसी गुण-वालेकी सेवा शुश्रूषा करता है । जैसे धनुष चलानेकी विद्या सीखनेवाला पुरुष उस धनुर्विद्याको जानने और चलानेवाले-

की उपासना करता है। ग्रन्थकर्ता भगवान् गुरुदास आचार्य मो रत्नत्रयकी विशुद्धिके इच्छुक हैं। अतः वे रत्नत्रयसे विशुद्ध पंच परमेष्ठीको नमस्कार करते हैं। श्रीगुरु नाम पंच परमेष्ठीका है। यह नाम इस व्युत्पत्तिसे सन्त होता है। श्रीनाम सम्पूर्ण वस्तुओंकी स्थिति जैसी है वैसीकी वैसी जाननेमें समर्थ ऐसी परिपूर्ण और निर्मल केवलज्ञानादि सम्पदाका है उस सम्पदा कर जो संयुक्त हैं वे श्रीगुरु हैं। ऐसे श्रीगुरु तीनकालके विषयभूत पंच परमेष्ठी ही होते हैं। तथा वे श्रीगुरु रत्नत्रय कर विशुद्ध हैं। यदि वे स्वयं रत्नत्रयसे विशुद्ध न हों तो औरोंकेलिए रत्नत्रयकी विशुद्धिके कारण नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका नाम रत्नत्रय है। संयम नाम सम्यक्चारित्रका है यह पांचप्रकारका है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात यह पांचों प्रकारका चारित्र सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है अ सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। अतः संयम विशेषण सामर्थ्यसे वे रत्नत्रयके गंभीर और उदार समुद्र हैं यह अ लब्ध होता है॥ १॥

आगे शास्त्र-समुद्रकी स्तुति करते हैं—

भावा यत्राभिधीयंते हेयादेयविकल्पतः।
अप्यतीचारसंशुद्धिस्तं श्रुताब्धिमभिष्टुवे॥ २

१। विकल्पितः इत्यपि पाठः।

अर्थ—हेय और आदेय भावोंका तथा अतीचारोंकी शुद्धि का जिसमें वर्णन पाया जाता है उस श्रुत—समुद्रको नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ—भाव शब्दका अर्थ पदार्थ और परिणाम दोनों हैं। प्रत्येकके दो दो भेद हैं। हेय और आदेय। यहां पर व्रतों-के अतीचार हेय भाव हैं और मूंडना, इष्टी करना आदि अवश्य करने योग्य आदेय भाव हैं। तथा कवाशोद्धाटन आदि अती ार हैं इन सबका वर्णन श्रुत समुद्रमें पाया जाता है। उसी श्रुत समुद्रकी यहां स्तुति की गई है ॥ २ ॥

आगे ग्रन्थका नाम निर्देश करते हैं:—

पारंपर्यक्रमायातं रत्नत्रयविशोधनं ।
संक्षेपात् संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तसमुच्चयं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो परम्पराके क्रमसे चला आरहा है, जिसमें रत्न-त्रयकी विशुद्धि पाई जाती है उस प्रायश्चित्त-समुच्चय नामके ग्रन्थको संक्षेपसे कहता हूं ।

प्रायश्चित्तं तपः प्राज्यं येन पापं पुरातनं ।
क्षिप्रं संक्षीयते तस्मात्तत्र यत्नो विधीयतां ॥ ४ ।

अर्थ—यह प्रायश्चित्त बड़ा भारी तपश्चरण है जिससे पहले किये हुए पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसलिए प्रायश्चित्तके करनेमें अवश्य यत्न करना चाहिए ॥ ४ ।

आगे प्रायश्चित्तके बिना व्रतोंकी व्यर्थता बताते हैं—

प्रायश्चित्तेऽसति स्यान्न चारित्रं तद्विना पुनः।
न तीर्थं न विना तीर्थान्निर्वृत्तिस्तद् वृथा व्रतं॥५॥

अर्थ—प्रायश्चित्तके अभावमें चारित्र नहीं है। चारित्रके अभावमें धर्म नहीं है और धर्मके अभावमें मोक्षकी प्राप्ति नहीं है इसलिए व्रत अर्थात् दीक्षा धारण करना व्यर्थ है।

भावार्थ—प्रायश्चित्त ग्रहण करनेसे ही व्रतोंकी सफलता है अन्यथा नहीं॥५॥

आगे प्रायश्चित्तके नाम बताते हैं:—

रहस्यं छेदनं दंडो मलापनयनं नयः।
प्रायश्चित्ताभिधानानि व्यवहारो विशोधनं॥६॥

अर्थ—रहस्य, छेदन, दंड, मलापनयन, नय-नीति-मर्यादा-व्यवस्था-क्रम, व्यवहार और विशोधन ये सब प्रायश्चित्तके नाम हैं।

आगे प्रायश्चित्तविधि न जाननेमें हानि बताते हैं:—

प्रायश्चित्तविधिं सूरिरजानानः कलंकयेत्।
आत्मानमथ शिष्यं च दोषजातान्न शोधयेत्॥७॥

अर्थ—प्रायश्चित्त विधिको न जाननेवाला आचार्य अपने आपको अनन्तर शिष्यको भी कलंकित—मलिन कर देता है। अतः वह अपनेको और शिष्योंको दोषोंसे नहीं बचा सकता।

भावार्थ—प्रायश्चित देनेकी विधि भी अवश्य जानना चाहिए ॥ ७ ॥

आगे पंचकल्याणके नाम गिनाते हैं:—

स्वस्थानं मासिकं मूलगुणो मूलममी इति।
पंचकल्याणपर्याया गुरुमासोऽथ पंचमः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वस्थान, मासिक, मूलगुण, मूल और पांचवां गुरुमास ये पांच पंचकल्याणके विशेष नाम हैं।

भावार्थ—पंच आचाम्ल, पंच निर्विकृति, पंचगुरुमंडल, पंच एकस्थान और पंच उपवास इनके निरंतर अर्थात् व्यवधानरहित करनेको पंचकल्याण कहते हैं। कल्याणका लक्षण आगे कहेंगे। पांच कल्याण जहां पर हों वह पंचकल्याण है। जिसके ये ऊपर कहे गये पांच पर्याय नाम हैं ॥ ८ ॥

आगे लघुमासका स्वरूप बताते हैं:—

नीरसेऽप्यथवाचाम्ले क्षमणं वा विशोधिते।
ज्ञात्वा पुरुषमत्वादि लघुर्वा सान्तरो गुरुः ॥ ९ ॥

अर्थ—पुरुष, उसका सत्व-धर्म, आदि शब्दसे बल, परिणाम आदि जानकर पूर्वोक्त पंचकल्याणमेंसे नीरस अर्थात् निर्विकृति, अथवा आचाम्ल या उपवासको कम कर देना लघुमास है। अथवा पूर्वोक्त पांचोंको निरंतर करना गुरुमास है उसी गुरु-मासको व्यवधानसहित करना लघुमास है।

भावार्थ—रसरहित आहारको निर्विकृति कहते हैं और कांजिक—सौवीरसे रहित भोजनको आचाम्ल कहते हैं। पांच आचाम्ल, पांच निर्विकृति, पांच गुरुमंडल, पांच एकस्थान और पांच उपवास इनमेंसे पांच निर्विकृति अथवा पांच आचाम्ल या पांच उपवास कम कर देना अर्थात् इन तीनमेंसे किसी एक कर रहित अवशिष्ट चारकी लघुमास संज्ञा है। तदुक्तं—

उववासपंचए वा आयंविलपंचए व गुरुमासादो ।
निव्वियडिपंचए वा अवणीदे होदि लहुमासं ॥

अर्थात्—गुरुमास अर्थात् पंचकल्याणमेंसे पांच उपवास, अथवा पांच आचाम्ल अथवा पांच निर्विकृति कम कर देने पर लघुमास होता है।

छेदशास्त्रकी अपेक्षा आचाम्ल, निर्विकृति, गुरुमंडल और एकस्थान इनमेंसे किसी एकको कम कर देने पर लघुमास होता है। यथा—

आदीदो चउसुज्झे एक्कहरवणियम्मि लहुमासं ।

अर्थात्—छेद शास्त्रके पाठानुसार क्षमण-उपवासका पाठ सबके अन्तमें है उनमेंसे उपवासको छोड़कर अवशिष्ट चारमेंसे किसी एकको घटा देना लघुमास है। सबका सारांश यह निकला कि इन पांचोंमेंसे किसी एक कर रहित अवशिष्ट चारकी लघुमास संज्ञा है। अथवा पंचकल्याणकको व्यवधानसहित करना भी लघुमास है ॥ ९ ॥

आगे भिन्नमासका स्वरूप बताते हैं:—

पंचस्वथापनीतेषु भिन्नमासः स एव वा।
उपवासैस्त्रिभिः षष्ठमपि कल्याणकं भवेत् ॥ १० ॥

अर्थ—एक आचाम्ल, एक निर्विकृति, एक पुरुमंडल, एक एकस्थान और एक उपवास ये पांच कम कर देने पर वही ऊपर कहा हुआ गुरुमास भिन्नमास हो जाता है। तथा तीन उपवासोंका एक षष्ठ होता है और कल्याणक भी होता है।

भावार्थ—निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल, एकस्थान और क्षपण इनको एक कल्याण कहते हैं ऐसे पांच कल्याणोंका एक पंचकल्याण होता है। यथा—

णिव्वियदी पुरिमंडलमायामं एयठाण खमणमिदि ।
कल्लाणमेगमेदेहिं पंचहिं पंचकल्लाणं ॥

इस गाथाका अर्थ ऊपर आ गया है। इन्हीं पंचकल्याणोंमें से एक कल्याण कम कर देने पर भिन्नमास हो जाता है अर्थात् चार कल्याणकका एक भिन्नमास होता है अथवा चार आचाम्ल, चार निर्विकृति, चार पुरुमंडल, चार एकस्थान और चार क्षपण इनका भिन्नमास कहते हैं। छठा भोजनकी बेलामें पारणा करना षष्ठ है। अर्थात् एक दिनमें दो भोजनकी बेला होती हैं।

१—णाऊण पुरिमलम विण वदधिरावियत्त च ।
पडिठि व कल्लाण भवदाई भिण्णमासा दे ॥

एकका धारणेके दिन त्याग करना, दो दिनोंमें चारका त्याग करना और एकका पारणेके दिन त्याग करना इस तरहके तीन उपवास करना या छह भोजनकी वेलाका त्याग करना षष्ठ है। तथा निरंतर, एक आचाम्ल, एक निर्विकृति, एक पुरुमंडल, एक एकस्थान, और एक उपवास करना कल्याणक है ॥ १० ॥

आगे कायोत्सर्ग और उपवासका प्रमाण बताते हैं:—

कायोत्सर्गप्रमाणाय नमस्कारा नवोदिताः ।
उपवासस्तनूत्सर्गैर्भवेद् द्वादशकैस्तकैः ॥ ११ ॥

अर्थ—नौ पंच नमस्कारोंका एक कायोत्सर्ग होता है और बारह कायोत्सर्गोंका एक उपवास होता है।

भावार्थ—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोये सव्वसाहूणं यह एक पंचनमस्कार है ऐसे नौ पंचनमस्कार एक कायोत्सर्गमें होते हैं और एक उपवासमें ऐसे ही बारह कायोत्सर्ग होते हैं। यथा—

णवपंचणमोक्कारा काउसग्गम्मि होंति एगम्मि ।
एदेहिं बारसेहिं उववासो जायदे एक्को ॥ —छेदपिंड ।

तथा—

एकम्मि विउस्सग्गे णव णवकारा हवंति बारसहिं ।
सयमट्ठोत्तरमेदे हवंति उववासा जस्स फलं ॥

अर्थात्—एक व्युत्सर्गमें नौ पंचनमस्कार होते हैं। बारह व्युत्सर्गोंमें एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। इन एक सौ आठ पंच नमस्कारोंके जपनेका फल एक उपवास है। तथा कायोत्सर्गके और भी अनेक भेद हैं। तदुक्तं—

यदेवसियं अट्ठ सयं पक्खियं च तिण्णि सया।
चाउम्मासे चउरो सयाणि संवत्सरे य पंचसया ॥

भावार्थ—एक सो आठ पंचनमस्कारोंका देवसिक कायोत्सर्ग होता है या देवसिक कायोत्सर्गमें एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। तथा पाक्षिकमें तीन सौ, चातुर्मासिकमें चार सौ और सांवत्सरिकमें पांच सो पंच नमस्कार होते हैं ॥ ११ ॥

आचाम्लेन सपादोनस्तत्पादः पुरुमंडलात्।
एकस्थानात्तदर्धं स्यादेवं निर्विकृतेरपि ॥ १२ ॥

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् कांजिक भोजन करनेसे वह उपवास चतुर्थांश हीन हो जाता है अर्थात् चार हिस्सोंमेंसे एक हिस्सा प्रमाण कम होजाता है—तीन हिस्सामात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। अनगारकी भोजन वेलाको पुरुमंडल कहते हैं। इस पुरुमंडलसे वह उपवास चतुर्थांश—चौथे हिस्से बराबर रह जाता है। तथा तीन मुहूर्त तकके भोजनके कालमें, एक ही स्थानमें पैरोंका संचार न कर भोजन करना एकस्थान है। इस एकस्थानके करनेमें वह उपवास आधा ही रह जाता है। और

निर्विकृति आहारके करनेसे भी उपवास आधा ही रह जाता है। छेदपिंड और छेदशास्त्रमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—

आयंविलम्हि पादूण खमण पुरिमंडले तहा पादो।
एयट्ठाणे अद्धं निव्वियडीओ य एमेव॥

इसका अर्थ ऊपर आ गया है॥ १२॥

अष्टोत्तरशतं पूर्णं यो जपेदपराजितं।
मनोवाक्कायगुप्तः सन् प्रोषधफलमश्नुते॥ १३॥

अर्थ—जो पुरुष मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिको धारण कर अपराजित पंचनमस्कार मंत्रको परिपूर्ण एक सौ आठ बार जपता है वह एक उपवासके फलको पाता है॥ १३॥

षोडशाक्षरविद्यायां स्यात्तदेव शतद्वये।
त्रिशत्यां षड्वर्णेषु चतसृष्वपि चतुःशते॥ १४॥

अर्थ—सोलह अक्षर वाले मन्त्रको दो सौ जाप देने पर भी एक उपवासका फल होता है। तथा छह अक्षर वाले मंत्रकी तीन सौ और चार अक्षर वाले मंत्रकी चार सौ जाप देने पर भी

१। आचाम्ले पादोनं क्षमणं पुरुमण्डले तथा पादः।
एकस्थाने अर्धं निर्विकृतौ च एवमेव॥
षोडशाक्षरविद्यायाः फलं प्रोक्तं शतद्वये
षड्वर्णत्रिशते स्यात्तच्चतुर्वर्णचतुःशते॥ १॥

एक एक उपवासका फल होता है। "अरहंत, सिद्ध, आयरिय, उवज्झाया साहू" यह सोलह अक्षरोंका 'अरहंत सि सा' यह छह अक्षरोंका और 'अरहंत' यह चार अक्षरोंका मन्त्र है ॥ १४ ॥

अकारं परमं बीजं जपेद्यः शतपंचकं।
प्रोषधं प्राप्नुयात् सम्यक् शुद्धबुद्धिरतंद्रितः ॥१५॥

अर्थ—जो निर्मलबुद्धिधारी पुरुष आलसरहित होता हुआ परमोत्कृष्ट अकार बीजाक्षरको पांच सौ बार अच्छी तरह जपता है वह एक उपवासका फल पाता है। तदुक्तं—

पणतीसं सोलसयं छप्पणयं च वण्णवीयाइं।
एउत्तरमट्ठसयं साहिए पं (पं) च खमणहं ॥

अर्थ—एक सौ आठ बार जपा हुआ पैंतीस अक्षरोंका जाप, दोसौ बार जपा हुआ सोलह अक्षरोंका जाप, तीन सौ बार जपा हुआ छह अक्षरोंका जाप, चार सौ बार जपा हुआ चार बीजाक्षरोंका जाप और पांच सौ बार जपा हुआ पद—एक अकार या ओंकार बीजाक्षरका जाप एक उपवासके लिए होता है ॥ १५ ॥

इति संज्ञाधिकारः प्रथमः ॥ १ ॥

प्रतिसेवाधिकार ।

प्रथम ग्रन्थके अधिकारोंका कथन करते हैं:—

प्रतिसेवा, ततः कालः क्षेत्राहारोपलब्धयः ।
पुमांश्छेदो विपश्चिद्भिर्विधिः षोढात्र कीर्त्यते॥१६॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष इस प्रायश्चित्त-समुच्चय नामके अनादिनिधन शास्त्रमें छह अधिकारोंका वर्णन करते हैं। पहला प्रतिसेवा नामका अधिकार है जिसमें सचित्त, अचित्त और मिश्रद्रव्यके आश्रयसे दोषोंके सेवन करनेका कथन है। उसके बाद दूसरा कालाधिकार है जिसमें शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकालके आश्रयसे प्रायश्चित्त देनेका कथन है। उसके बाद क्षेत्राधिकार है जिसमें स्निग्ध, रूक्ष, मिश्र आदि क्षेत्रोंके अनुसार प्रायश्चित्त देनेका वर्णन है। चौथा आहारोपलब्धि नामका अधिकार है जिसमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आहार प्राप्तिके अनुसार प्रायश्चित्त देनेका विधान है। उसके बाद पांचवां पुरुषाधिकार है जिसमें वह पुरुष धर्ममें स्थिर है या अस्थिर है, आगमज्ञ है या अनागमज्ञ है श्रद्धालु है या अश्रद्धालु है इत्यादि पुरुषाश्रित प्रायश्चित्तका कथन है। उसके बाद छठा प्रायश्चित्ताधिकार है जिसमें दशप्रकारके प्रायश्चित्तोंका वर्णन है॥ १६॥

उद्देशानुसार पहिले प्रतिसेवाका कथन करते हैं,—

निमित्तादनिमित्ताच्च प्रतिसेवा द्विधा मता ।
कारणात् षोडशोद्दिष्टा अष्टभंगास्तथेतरे ॥१७॥

अर्थ—निमित्तसे और अनिमित्तसे प्रतिसेवा दो तरहकी मानी गई है। उनमें भी कारणसे सोलह तरहकी कही गई है। इसी तरह अकारणमें आठ भंग होते हैं। भावार्थ—उपसर्ग व्याधि आदि निमित्तोंको पाकर दोषोंका सेवन करना और इन निमित्तोंके विना दोषोंका सेवन करना इस तरह प्रतिसेवाके दो भेद हैं। उनमें भी प्रत्येकके अर्थात् निमित्त प्रतिसेवाके सोलह और अनिमित्त प्रतिसेवाके आठ भेद होते हैं।

सारांश—कारणकृत प्रतिसेवाके सोलह भंग और अकारण-कृत प्रतिसेवाके आठ भंग होते हैं ॥ १७ ॥

सहेतुकः सकृत्कारी सानुवीची प्रयत्नवान् ।
तद्विपक्षा द्विकाः संति षोडशाऽन्योऽन्यताडिताः॥

अर्थ—सहेतुक—उपसर्गादि निमित्तोंको पा कर दोषोंको सेवन करने वाला १ सकृत्कारी—जिसका एक वार दोष सेवन करनेका स्वभाव है। सानुवीची—अनुवीची नाम अनुकूलता का है जो अनुकूलताकर सहित है वह सानुवीची है अर्थात् विचारपूर्वक आगमानुसार बोलने वाला ३ और प्रयत्नवान्-

१। चि इत्यपि पाठः।

भयत्नपूर्वक दोष सेवन करनेवाला ४ इन चारोंको एक एक विरलनकर ऊपर स्थापन करना । इन्हीं सहेतुक दिकोंके विपक्षी अहेतुक, असकृत्कारी, असानुवीची और अप्रयत्नवान् ये संख्यामें दो दो हैं इनको दो दोका पिंड बनाकर नीचे स्थापन करना पश्चात् इनका परस्परमें गुणाकार करना इस तरह करने पर सोलह संख्या निकल आती है ।

संदृष्टि—२ २ २ २ = १६ इन भंगोंको निकालनेकी तरकीब बताने वाली दो गाथाएं मूलाचारमें हैं वे यहां दी जाती हैं ।

दोषगणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव ।

णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १ ॥

दोषोंकी संख्या, प्रस्तार, अक्षसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट ये पांच वस्तुके वर्णनमें जानना । दोषोंके भेदोंको गिनना संख्या है । इनका स्थापन करना प्रस्तार है । भेदोंका परिवर्तन अक्षसंक्रम है । संख्या रखकर भेद निकालना नष्ट है और भेद रखकर संख्या निकालना उद्दिष्ट है ।

सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।

मेलंति त्ति य कमसो गुणिए उपज्जये संखा ॥ २ ॥

सभी पहले पहले के भंग ऊपर ऊपरके सभी एक एक भंगमें

---

१ । दोषगणाना संख्या प्रस्तार: अक्षसंक्रमश्चैव ।
नष्टं तथा उद्दिष्टं पंचापि वस्तुनि ज्ञेयानि ॥

२ २, १ १ १ १, २ २ २ २, और चारों पंक्तिमें आठ लघु और आठ गुरु एवं अष्टान्तरित स्थापित करे १ १ १ १, १ १ १ १, २ २ २ २, २ २ २ २, । इसी क्रमको मानेके लिए नीचे एक करण गाथा दी जाती है—

पढमं दोसपमाणं कमेण णिक्खिविय उपरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥

अर्थ—प्रथम दोषके प्रमाणको विरलन कर क्रमसे रख कर और उन विरलन किये हुये एक एकके ऊपर, ऊपरका एक एक पिंड रखकर जोड़ देनेपर प्रस्तार होता है। सो ही कहते हैं—आगाढ़कारण और अनागाढ़कारणका प्रमाण दो इनको विरलन कर क्रमसे लिखे १ १, इनके ऊपर दूसरा सकृत्कारी और असकृत्कारी दोषके पिंड दो दो का रक्खे १/१ १/१, इन दो दो को जोड़ने से चार हुए । फिर इन चारोंको क्रमसे चार जगह विरलन कर रक्खे १ १ १ १ इनके ऊपर सानुवीची और असानुवीचीका एक एक पिंड रख कर १/१ १/१ १/१ १/१ जोड़ देनेसे आठ हुए पुनः इन आठों को आठ जगह विरलन कर रक्खे १ १ १ १ १ १ १ १ इनके ऊपर प्रयत्नप्रतिसेवी और अप्रयत्नप्रतिसेवीका एक एक पिंड स्थापित कर जोड़ देनेसे सोलह हुए । इस तरह प्रस्ताररूप स्थापन किये सोलह भंगोंके कहनेका विधान कहते हैं—आगाढकारणकृत सकृत्कारी सानुवीची प्रयत्नवान् १ १ १ १ यह इन सोलह दोषोंकी प्रथमो-

धारणा है। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, मयत्नसेवी २१११ यह दूसरी उचारणा, आगाढ़कारणकृत असकृत्कारी सानुवीची मयत्नसेवी १२११ यह तीसरी उचारणा। अनागाढकारणकृत असकृत्कारी, सानुवीची मयत्नसेवी २२११ यह चौथी उचारणा। आगाढकारणकृत सकृत्कारी असानुवीची मयत्नमतिसेवी ११२१ यह पांचवीं उचारणा। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची, मयत्नमतिसेवी २१२१ यह छठी उचारणा। आगाढ़कारणकृत, असकृत्कारी असानुवीची, मयत्नमतिसेवी १२२१ यह सातवीं उचारणा। अनागाढकारणकृत, असकृत्कारी, असानुवीची ·मयत्नमतिसेवी २२२१ यह आठवीं उचारणा। आगाढ कारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची अमयत्नमतिसेवी १११२ यह नौवीं उचारणा। अनागाढकारणकृत सकृत्कारी, सानुवीची, अमयत्नमतिसेवी २११२ यह दशवीं उचारणा। आगाढकारणकृत, असकृत्कारी, सानुवीची अमयत्नमतिसेवी १२१२ यह ग्यारहवीं उचारणा। अनागाढकारणकृत असकृत्कारी, सानुवीची, अमयत्नमतिसेवी २२१२ यह बारहवीं उचारणा। आगाढ कारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची, अमयत्नमतिसेवी ११२२ यह तेरहवीं उचारणा। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची, अमयत्नमतिसेवी २१२२ यह चौदहवी उचारणा। आगाढकारणकृत असकृत्कारी असानुवीची अमयत्नमतिसेवी १२२२ यह पन्द्रहवीं उचारणा। अनागाढ कारणकृत

असकृत्कारी, असानुवीची अप्रयत्नप्रतिसेवी २२२२ यह सोलहवीं उच्चारणा। ये सब मिलकर सोलह उच्चारणाएं होती हैं। इनकी प्रस्तार संदृष्टि इस प्रकार है।

१२,१२,

११२२,११२२,

११११,२२२२,

११११११११,२२२२२२२२

अब अक्षसंक्रमणार्थ गाथा कहते हैं—

पढमक्खे अंतगए आइगए संकमेइ बिदिअक्खो।
दोण्णि वि गंतुं णंतं आइगए संकमेइ तइअक्खो॥

अर्थ—आगाढकारणकृत और अनागाढकारणकृत यह प्रथमाक्ष, सकृत्कारी और असकृत्कारी यह द्वितीय अक्ष, सानुवीची और असानुवीची यह तृतीय अक्ष और . . . अप्रयत्नप्रतिसेवी यह चतुर्थ अक्ष है। इनमेंसे प्रथमाक्ष संचरण करता है अन्य अक्ष उसी तरह रहते हैं। इस तरह संचरण करता हुआ प्रथमाक्ष अंतके अनागाढकारणकृत दोषको प्राप्त होकर पुनः लौटकर पहले आगाढकारणकृतदोष पर जब आता है तब द्वितीयाक्ष सकृत्कारीको छोड़कर असकृत्कारीमें संचरण करता है। फिर उस अक्षके वहीं पर स्थित रहते हुए प्रथमाक्ष संचरण करता हुआ अंतको पहुंच जाता है तब दोनों ही प्रथमाक्ष और द्वितीयाक्ष अंतको पहुंचकर और लौटकर जब आदिको

आते हैं तब तृतीयाक्ष सानुवीचीको छोड़कर असानुवीचीमें संक्रमण करता है। फिर इस अक्षके यहीं स्थित रहते हुए प्रथमाक्ष और द्वितीयाक्ष दोनों संचरण करते हुए अंतको पहुंच जाते हैं तब तीनोंही अक्ष अंतको पहुंचकर और लौटकर जब आदिस्थानको आते हैं तब चतुर्थ अक्ष प्रयत्नप्रतिसेवीको छोड़कर अप्रयत्नप्रतिसेवीमें संक्रमण करता है। भावार्थ—भेदोंके परिवर्तनको अक्षसंचार कहते हैं। ये आगाढ़ कारणादि भेद पलटते रहते हैं उन्हींका परिवर्तनका क्रम इस गाथा द्वारा बताया गया है। जिनकी कि उच्चारणा ऊपर बताई जा चुकी है। फिर भी स्पष्टार्थ लिखते हैं—

१ आगाढ़-कारणकृत,	सकृत्	सानुवीची,	प्रयत्नसेवी	११११
२ अनागाढ़कारणकृत	”	”	”	२१११
३ आगाढ़कारणकृत	असकृत्	”	”	१२११
४ अनागाढ़कारणकृत	”	”	”	२२११
५ आगाढ़कारणकृत	सकृत्	असानुवीची	”	११२१
६ अनागाढ़कारणकृत	”	”	”	२१२१
७ आगाढ़कारणकृत	असकृत्	”	”	१२२१
८ अनागाढ़कारणकृत	असकृत्	”	”	२२२१
९ आगाढ़कारण कृत	सकृत्	सानुवीची	अप्रयत्नसेवी	१११२
१० अनागाढ़कारणकृत	सकृत्	”	”	२११२
११ आगाढ़कारणकृत	असकृत्	”	”	१२१२
१२ अनागाढ़कारणकृत	”	”	”	२२१२

१३ आगाढकारणकृत सकृत् असानुवीची		,,	११२२
१४ अनागाढकारणकृत ,,	,,	,,	२१२२
१५ आगाढकारणकृत असकृत् ,,		,,	१२२२
१६ अनागाढकारणकृत ,,	,,	,,	२२२२

आगे नष्ट विधि कहते हैं—

सगमाणेहिं विहत्ते सेसं लक्खित्तु संखिवे रूवे।
लक्खिज्जंते सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥

अर्थ—पृष्ट दोपकी संख्या रखकर अपने अपने प्रमाणका भाग देवे। भागदेने पर जो संख्या बच रहे उसको अक्षस्थान समझे। लब्धमें एक जोड कर फिर स्वप्रमाणका भाग दे जो बाकी बच रहे उसको अक्षस्थान समझे। अगर वाकी कुछ भी न बचे तो लब्ध संख्यामें एक न जोडे और अन्तका अक्ष ग्रहण करे। इस तरह सब जगह करे। भावार्थ—किसीने सोलह उच्चारणाओंमेंसे कोई सी उच्चारणा पूछी उस उच्चारणामें दोषोंका कौनसा भेद है यह मालूम न हो तो इस गाथा द्वारा मालूम करलिया जाता है। जैसे किसीने पूछा कि नौवीं उच्चारणामें कौनसा अक्ष है तब ९ संख्या स्थापनकर उसमें आगाढ और अनागाढका भाग दिया चार लब्ध हुए और एक बाकी बचा। 'शेषं अक्षपदं जानीहि' इसके अनुसार आगाढ समझना चाहिये, क्योंकि आगाढ और अनागाढमें पहला आगाढ है। फिर जो चार लब्ध आये हैं उसमें

लब्धे रूपं प्रक्षिप' इसके अनुसार एक जोड़े, पांच हुए, इनमें कृतकारी और असकृत्कारीका भाग दिया, दो लब्ध आये और एक बचा। पूर्वोक्त नियमके अनुसार पहला सकृत्कारी समझना चाहिए। फिर लब्ध दोमें एक रूप जोडनेसे, तीन हुए इनमें सानुवीची और असानुवीचीका भाग दिया एक लब्ध आया और एक ही बाकी बचा पुनः पूर्वोक्त नियमके अनुसार पहला सानुवीची समझना चाहिए, फिर लब्ध एकमें एक रूप जोडनेसे दो हुए, इनमें यत्नसेवी और अयत्नसेवीका भाग दिया लब्ध एक आया और बाकी कुछ नहीं बचा 'शुद्धे सति अन्त्योऽन्ते तिष्ठति' इस नियमके अनुसार अन्तका अयत्नसेवी ग्रहण किया। इस तरह नवमी उच्चारणामें प्रमादकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची अयत्नसेवी नामका भङ्ग आया। इसी तरह अन्य उच्चारणाओंके भङ्ग भी निकाल लेने चाहिए।

आगे उद्दिष्ट विधि कही जाती है—

संठाविऊण रूवं उवरिओ संगुणित्तु सयमाणे।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंतिमं चेव ॥

अर्थ—एक रूप रखकर उसको अपने ऊपरके प्रमाणसे गुणा कर और अनंकितको घटावे इस तरह प्रथम पर्यन्त करे।

भावार्थ—यहां जो भेद ग्रहण हो उसके आगेके स्थानोंकी जो संख्या हो वह अनंकित है। जैसे आगाढ़ और अनागाढ़के

से यदि आगाढका ग्रहण हो तो उसके आगेरामें अनागाढ़को अनंकित समझना। इसीतरह सकृत्कारी—असकृत्कारी सानुवीची—असानुवीची और यत्नसेवी अयत्नसेवीमें भी समझना। किसीने पूछा कि आगाढकारणकृत सकृत्कारी, सानुवीची अयत्नसेवी यह कौनसी उचारणा है तब प्रथम एक रूप रखिये उसको ऊपरके यत्नसेवी और अयत्नसेवीका प्रमाण दोसे गुणिये, दो हुए, अनंकितको घटाइये, यहां अनंकित कोईनहीं दोनों ही अंकित हैं अतः दो ही रहे। फिर इन दो को सानुवीची और असानुवीची का प्रमाण दो स गुणिये, चार हुए, यहां असानुवीची अनंकित है अतः चारमेंसे एक घटाइये तब तीन रहे। इन तीनको सकृत्कारी और असकृत्कारीका प्रमाण दोसे गुणिये, छह हुए, अनंकित असकृत्कारीको घटाइये पांच रहे, पुनः पांचको आगाढ़ अनागाढ़की संख्या दोसे गुणिये, दश हुए अनंकितका घटा दीजिये, नौ रहे। इस तरह आगाढ़कारणकृत सकृत्कारी सानुवीची अयत्नसेवी नामकी नौवी उचारणा सिद्ध होती है। यही विधि अन्य उचारणाओंके निकालनेमें करनी चाहिए॥१९॥

विशुद्धः प्रथमोऽन्त्योऽपि सर्वथा शुद्धिवर्जितः।
भंगाश्चतुर्दशान्ये तु सर्वे भाज्या भवन्त्यमी ॥२०॥

अर्थ—इन सोलह भंगोंमेंसे पहला भंग विशुद्ध है—लघु प्रायश्चित्तके योग्य है। अन्तका सोलहवां भंग बिलकुल अशुद्ध

है—गुरु प्रायश्चित्तके योग्य है । बाकीके चौदह भंग माज्य हैं—लघु-गुरु दोनों तरहके हैं अतः छोटे बड़े प्रायश्चित्तके योग्य हैं ॥

आगाढकारणे कश्चिच्छेपाशुद्धोऽपि शुद्धयति ।
विशुद्धोऽपि पदैः शेषैरनागाढे न शुद्धयति ॥२१॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च या अचेतनकृत उपसर्ग वश या व्याधिवश दोष सेवन कर लेने पर, शेष असकृत्कारी, असानुवीची और अप्रयत्नसेवी पदों कर अशुद्ध होते हुए भी, कोई पुरुष शुद्ध हो जाता है अर्थात् वह उस दोषयोग्य लघु प्रायश्चित्तका पात्र है । तथा कोई पुरुष विना कारण दोष सेवन कर लेने पर शेष सकृत्कारी, सानुवीची और प्रयत्नसेवी पदोंसे शुद्ध होते हुए भी शुद्ध नहीं होता—लघु प्रायश्चित्तका पात्र नहीं होता ॥ २१ ॥

अब आठ अनिमित्त भंगोंको कहते हैं—

अकारणे सकृत्कारी सानुवीचिः प्रयत्नवान् ।
तद्विपक्षा द्विका एतेऽप्यष्टावन्योन्यसंगुणाः ॥२२॥

अर्थ—अकारणभंगोंमें सकृत्कारी, सानुवीचि और प्रयत्नवान इन तीनोंकी लघु संज्ञा है और इनके विपक्षी असकृत्कारी, असानुवीची और अप्रयत्नप्रतिसेवीकी द्विक अर्थात् गुरु संज्ञा है । ये भी परस्पर गुणा करने पर आठ होते हैं । संदृष्टि

: : : = ८ ॥

भावार्थ—जिस तरह सोलह निमित्तभंग संख्या, प्रस्तार, अक्षसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट ऐसे पांच तरहसे वर्णन किये गये हैं उसी तरह इन आठ भङ्गोंको भी समझना चाहिए। प्रथम संख्या निकालते हैं। पहले पहलेके भंग ऊपर ऊपरके सब भंगोंमें पाये जाते हैं अतः उनको परस्पर गुणा करने पर २ २ २=आठ संख्या निकल आती है। इति संख्या। अब प्रस्तार बतलाते हैं—प्रथम पंक्तिमें आठ जगह एकान्तरित लघु और गुरु स्थापन करे १२ १२ १२ १२। द्वितीय पंक्तिमें द्वयन्तरित लघुगुरु स्थापन करे ११२२ ११२२। तृतीय पंक्तिमें चतुरंतरित लघु-गुरु स्थापन करे ११११ २२२२। इनकी उच्चारणा बतलाते हैं—

सकृत्कारी, सानुवीची यत्नसेवी यह प्रथम उच्चारणा १११
असकृत्कारी सानुवीची, यत्नसेवी यह द्वितीय उच्चारणा २११
सकृत्कारी असानुवीची यत्नसेवी यह तृतीय उच्चारणा १२१
असकृत्कारी असानुवीची यत्नसेवी यह चतुर्थ उच्चारणा २२१
सकृत्कारी सानुवीची अयत्नसेवी यह पंचम उच्चारणा ११२
असकृत्कारी सानुवीची अयत्नसेवी यह छठा उच्चारणा २१२
सकृत्कारी असानुवीची अयत्नसेवी यह सप्तम उच्चारणा १२२
असकृत्कारी असानुवीची अयत्नसेवी यह अष्टम उच्चारणा २२२

संदृष्टि—

१२ १२ १२ १२
११ २२ ११ २२
११ ११ २२ २२

प्रस्तसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट भी पहलेकी तरह निकाल लेना चाहिए। इस तरह इन आठ भंगोंकी संख्या, प्रस्तार, अक्षपरिवर्तन, नष्ट और उद्दिष्ट जानना। पूर्वोक्त निमित्त दोष सोलह और आठ ये अनिमित्त दोष कुल मिलाकर चौबीस दोष होते हैं॥ २२॥

अष्टाप्येते न संशुद्धा आद्यः शुद्धतरस्ततः।
अविशुद्धतरास्त्वन्ये भंगाः सप्तापि सर्वदा॥२३॥

अर्थ—ये ऊपर बताये हुए आठों भंग संशुद्ध नहीं हैं अशुद्ध हैं—बहुत प्रायश्चित्तके योग्य हैं इनमेंका पहला भंग द्वितीय भंगकी अपेक्षा शुद्ध है—लघु प्रायश्चित्तके योग्य है। इसके अलावा बाकीके सातों भंग निरंतर अविशुद्धतर हैं—बहुत प्रायश्चित्तके योग्य हैं॥ २३॥

प्रतिसेवाविकल्पानां त्रयोविंशतिमामृषन्।
गुरुं लाघवमालोच्य च्छेदं दद्याद्यथायथं॥२४॥

अर्थ—प्रतिसेवाके कुल विकल्प चौबीस हुए। उनमें से (आगाढकारणकृत सकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नप्रतिसेवी) पहले विकल्पको छोड़कर अवशिष्ट तेईस विकल्पोंमें छोटे और बड़ेका विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ २४॥

द्रव्ये क्षेत्रेऽथ काले वा भावे विज्ञाय सेवनां।
क्रमशः सम्यगालोच्य यथाप्राप्तं प्रयोजयेत्॥२५॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको जानकर और

सेवना—सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यके उपभोगका क्रमसे अच्छी तरह विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित देना चाहिए।

भावार्थ—जिसको प्रायश्चित दिया जाय उसके उत्कृष्ट, मध्यम जघन्य संहननयुक्त शरीरको और मंदज्ञानादिको, मगध, कुरुजांगल आदि निवास स्थानको, शीतकाल उष्णकाल वर्षाकाल आदि कालको, और तीव्र मंद आदि भावोंको जानलेना चाहिए और उसकी सचित्त, अचित्त और मिश्र पदार्थकी सेवना पर भी अच्छी तरह विचार करलेना चाहिए बाद यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए अन्यथा लाभके बदले हानि होनेकी संभावना है॥ २५॥

नीरसः पुरुमंडश्चाप्याचाम्लं चैकसंस्थितिः।
क्षमणं च तपो देयमेकैकं द्व्यादिमिश्रकं॥२६॥

अर्थ—निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल, एकसंस्थान और उपवास इन पांचोंके प्रत्येक भंग द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतुः संयोगी और पंचसंयोगी भंग निकाल कर प्रायश्चित्त देना चाहिए। भंगोंके निकालनेकी विधि इस प्रकार है। निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल, एकस्थान, और उपवास ये पांच प्रत्येक भंग हैं। द्विसंयोगी भंग बनाते हैं-निर्विकृति और पुरुमंडल यह प्रथम भंग १। निर्विकृति और आचाम्ल यह द्वितीय २। निर्विकृति और एकस्थान यह तृतीय भंग ३। निर्विकृति और यह चतुर्थ भंग ४। पुरुमडल आचाम्ल यह पंचम भंग

५। पुरुमंडल और एकस्थान यह छठा भंग ६। पुरुमंडल और खमण यह सातवां भंग ७। आचाम्ल और एकस्थान यह आठवां भंग ८। आचाम्ल और खमण यह नौवां भंग ९। एक स्थान और खमण यह दशवां भंग १०। ये दश द्विसंयोगी भंग हुए। अब त्रिसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति पुरुमंडल और आचाम्ल यह प्रथम भंग १। निर्विकृति, पुरुमंडल और एकस्थान यह द्वितीय भंग २। निर्विकृति, पुरुमंडल और खमण यह तृतीय भंग ३। निर्विकृति, आचाम्ल और एक स्थान यह चतुर्थ भंग ४। निर्विकृति, आचाम्ल और खमण यह पंचम भंग ५। निर्विकृति एकस्थान और खमण यह छठा भंग ६। पुरुमंडल, आचाम्ल और एकस्थान यह सप्तम भंग ७। पुरुमंडल, आचाम्ल और खमण यह आठवां भंग ८। पुरुमंडल एकस्थान और खमण यह नौवां भंग ९। आचाम्ल, एकस्थान और खमण यह दशवां भंग १०। ये दश त्रिसंयोगी भंग हुए। अब चतुःसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल और एकस्थान यह प्रथमभंग १। निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल और खमण यह द्वितीय भंग २। निर्विकृति पुरुमंडल, एकस्थान और खमण यह तृतीय भंग ३। निर्विकृति, आचाम्ल, एकस्थान और खमण यह चतुर्थ भंग ४। पुरुमंडल, आचाम्ल, एकस्थान और खमण यह पंचम भंग ५। ये पांच चतुःसंयोगी भंग हुए। अब पंचसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति पु

मंडन, मायास्त एकस्थान और दायक यह पांचोंका मिलकर एक मंग । पांच प्रत्येक मंग, दस द्विसंयोगी मंग, दस त्रिसंयोगी मंग, पांच चतुःसंयोगी मंग और एक पंच संयोगी मंग. कुल मिलकर ५+१०+१०+५+१=३१ इकत्तीस मंग हुए। इनको शलाका भी कहते हैं। पहले जो सोलह दोष कह आये हैं उनमें इन इकत्तीस शलाकाओंका विभाग कर प्रायश्चित्त देना चाहिए। प्रथम दोषका पहली सलाकाका प्रायश्चित्त और शेष पंद्रह दोषोंका प्रत्येक और मिश्र ऐसी दो दो शलाकाओंका प्रायश्चित्त देना चाहिए। इन निर्विकृति आदि इकतीस शलाका रूप प्रायश्चित्तोंकी यह प्रस्तार संदृष्टि है।

१ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २
१ २ २ ४ ४ ४ ४ ४ ६ ६ ६ ६ ६ ८ ८ ६

इस संदृष्टिमें ऊपर शलाकाओंकी संख्या है और नीचे उन शलाकाओंके अन्तर्गत प्रायश्चित्तोंकी संख्या है। यद्यपि प्रथम दोषको छोडकर शेष पंद्रह दोषोंकी सलाकाएं समान दो दो हैं तथापि उनके प्रायश्चित्तोंकी संख्या समान नहीं है दूसरे तीसरे दोषकी शलाकाएं दो दो हैं और प्रायश्चित्त भी दो दो हैं। चौथेसे आठवां तक शलाकाएं दो दो और प्राय- श्चित्त चार चार, नौवेंसे तेरहवें तक शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त छह छह, चौदहवें पंद्रहवेंमें शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त आठ आठ तथा सोलहवेंमें शलाका दो और

प्रायश्चित्त नों हैं। शलाकाओंका विभाग करनेवाला यहां एक संग्रह श्लोक है उसे कहते हैं।

आद्यमाद्ये तपोऽन्येषु प्रत्येकं तद्द्वयं ततः।
आद्ये तत्त्रयमष्टानां तच्चतुष्टयमन्यतः॥

अर्थ—सोलह दोषोंमेंसे प्रथम दोषका प्रायश्चित्त आद्य तप अर्थात् प्रथम शलाका है। शेष पंद्रह दोषोंका प्रायश्चित्त दो दो तप—दो दो शलाकाएं हैं। तथा आठ दोषोंमेंसे प्रथम दोषका प्रायश्चित्त तीन तप—तीन शलाकाएं और शेष सात दोषोंका प्रायश्चित्त चार चार तप—चार चार शलाकाएं हैं।

आगाढादि सोलह दोषोंका प्रायश्चित्त सामान्यसे कहा गया अब लघु दोष और गुरु दोषका विचार कर आचार्योंके उपदेशके अनुसार उत्तर सूत्रके अभिप्रायसे उक्त शलाकाओंमें किसको कौनसा प्रायश्चित्त दिया जाता है यह निश्चय करते हैं। आगाढकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नसंसेवी प्रथम दोषका प्रायश्चित्त आलोचनामात्र है। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नसंसेवी द्वितीय दोषका बड़ा प्रायश्चित्त - छह शुद्धिवाली दो शलाकाएं हैं जिनमें एक शलाका तो निर्विकृति और क्षपण नामकी तथा द्विमपोगर्वी और दूसरी निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल और एकस्थान नामकी छत्तीसवी चतुर्थ सामकी है। इस तरह दोनों शलाकाओंके छह प्रायश्चित्त द्वितीय दोषके हैं। आगाढकारणकृत, असकृ-

नुवीची अयत्नसेवी आठवें दोषका प्रायश्चित्त बारहवीं और अठाईसवीं शलाका है। बारहवीं शलाका पुरुमंडल और क्षमण ऐसे द्विसंयोगी भंगकी और अठाईसवीं शलाका निर्विकृति, पुरुमंडल एकस्थान और क्षमण ऐसे चतुःसंयोगी भंगकी है। आगाढकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, अयत्नसेवी नौवें दोषका प्रायश्चित्त तीसरी और चौथी शलाका है। ये दोनों शलाकाएं आचाम्ल और एकस्थान ऐसे एक एक संयोगी भंगकी हैं। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, अयत्नसंसेवी दशवें दोषका प्रायश्चित्त तेवीसवीं और इक्कीसवीं त्रिसंयोगी शलाकाएं हैं। तेवीसवीं शलाका पुरुमंडल आचाम्ल और क्षमणकी और इक्कीसवीं शलाका निर्विकृति एकस्थान और क्षमणकी है आगाढकारणकृत, असकृत्कारी, सानुवीची, अयत्नसेवी ग्यारहवें दोषका प्रायश्चित्त आठवीं और ग्यारहवीं द्विसंयोगी शलाकाएं हैं। आठवीं शलाका निर्विकृति और एकस्थान और ग्यारहवीं शलाका पुरुमंडल और एकस्थानकी है। अनागाढकारणकृत असकृत्कारी, सानुवीची, अयत्नसेवी बारहवें दोषका प्रायश्चित्त अठारहवीं और बीसवीं

१—सोलस बावीसइमा, बारस अट्ठारसमा, तिय चउत्थी ।
चउवीसिमा पणवीसमा, अट्ठमि इगारसी चेव ॥

यहां थोड़ा आचार्यसंप्रदायका भेद है। वह यह कि दशवें दोषके ऊपर इक्कीसवीं और तेईसवीं शलाका बताई गई है और इस गाथामें चौबीसवीं और पच्चीसवीं।

त्कारी, सानुवीची प्रयत्नप्रतिसेवी तृतीय दोषका पहलो निर्विकृति शलाका और दूसरी पुरुमंडल शलाकारूप छोटा प्रायश्चित्त है। अनागाढकारणकृत, असकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नप्रतिसेवी चौथे दोषका पंद्रहवीं और तीसवीं शलाकारूप गुरु प्रायश्चित्त है। पंद्रहवीं शलाका एकस्थान और क्षमण इस तरह द्विसंयोगकी और तीसवीं शलाका पुरुमंडल, आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण इस तरह चतुःसंयोगकी है। आगाढकारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची, प्रयत्नसंसेवी, पंचम दोषका प्रायश्चित्त छठी और तेरहवीं शलाका है। दोनों ही शलाकाएं द्विसंयोगवाली हैं। छठीमें निर्विकृति और पुरुमंडल और तेरहवींमें आचाम्ल और एकस्थान है। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची प्रयत्नसंसेवी छठे दोषका प्रायश्चित्त चौदहवीं और सताईसवीं शलाका है। चौदहवीं शलाका आचाम्ल और क्षमण ऐसे द्विसंयोगकी और सत्ताईसवीं शलाका निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल और क्षमण ऐसे चतुःसंयोगकी है। आगाढकारणकृत, असकृत्कारी असानुवीची प्रयत्नसंसेवी सातवें दोषका प्रायश्चित्त सोलहवीं और बाईसवीं त्रिसंयोगी दो शलाकाएं हैं। सोलहवीं शलाका निर्विकृति, पुरुमंडल और आचाम्लकी और बाईसवीं शलाका, पुरुमंडल आचाम्ल और एकस्थानकी है। अनागाढकारणकृत, असकृत्कारी, असा-

१—पथमी छव्वीसदिमा पदम दुइजा य पण्णरस तीसा।
छट्ठी तेरसमी विय चोद्दसी सत्तवीसदिमा॥

त्रिसंयोगी शलाकाएं हैं। अठारहवीं शलाका निर्विकृति पुरुमंडल और क्षमणकी और वीसवीं शलाका निर्विकृति आचाम्ल और क्षमणकी है। आगाढकारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची, अयत्नसेवी तेरहवें दोषका प्रायश्चित्त सातवीं और दशवीं द्विसंयोगी दो शलाकाएं हैं। सातवीं शलाका निर्विकृति और आचाम्लकी और दशवीं शलाका पुरुमंडल और आचाम्लकी है। अनागाढकारणकृत, सकृत्कारी, असानुवीची, अयत्नसेवी चौदहवें दोषका प्रायश्चित्त चौवीसवीं और पचीसवीं त्रिसंयोगी दो शलाकाएं हैं। चौवीसवीं शलाका पुरुमंडल एकस्थान और क्षमणकी और पचीसवीं आचाम्ल एकस्थान और क्षमणकी है। आगाढकारणकृत, असकृत्कारी, असानुवीची अयत्नसेवी पंद्रहवें[1] दोषका प्रायश्चित्त सतरहवीं और उन्नीसवीं त्रिसंयोगी शलाकाएं हैं। सतरहवीं शलाका निर्विकृति, पुरुमंडल और एकस्थानकी और उन्नीसवीं शलाका निर्विकृति

१—अट्ठारस वीसदिमा, सत्तम दसमीय, एकवीसदिमा।
तेवीसदिमा, सत्तारसी य पऊम वीसदिमा॥

चौदहवें दोषमें ऊपर चौवीसवीं और पचीसवीं शलाका बताई है और इस गाथामें इकीसवीं और तेईसवीं। यह आचार्य सम्प्रदायका भेद मालूम पड़ता है। अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि दशवें दोषका प्रायश्चित्त चौदहवेंमें और चौदहवेंका दशवेंमें परस्पर बताया गया है। अंत दोनों ही स्थलोंमें त्रिसंयोगी हैं।

आद्ये यालोचनान्येषु द्वे द्वे स्याता शलाकिके।
आद्यं मुक्त्वा यथायोग्यं प्राग्वदादिष्टमष्टमु ॥

अर्थ—प्रथमदोषमें आलोचना प्रायश्चित्त है अन्य दोषोंमें दो दो शलाकाएं हैं विशेष इतना है कि सोलहवें दोषमें तीन शलाकाएं हैं। तथा आठ दोषोंमें पहले दोषको छोड़कर शेष दोषोंमें पूर्ववत् प्रायश्चित्त समझना। भावार्थ—पहले दोषोंमें तीन शलाकाएं और शेष सात दोषोंमें चार चार शलाकाएं रूप प्रायश्चित्त है।

जो निष्कारण आठ भंग हैं वे सर्वथा ही अशुद्ध हैं तो भी उनमेंका पहला भंग अन्य भंगोंकी अपेक्षा विशुद्धतम है। अन्त का अविशुद्धतम अर्थात सबसे अधिक अविशुद्ध है। सकृत्कारी सानुवीची, यत्नसेवी प्रथम भंगका प्रायश्चित्त एक संयोगवाली निर्विकृति, पुरुमंडल और आचाम्ल ऐसी पहली दूसरी तीसरी तीन शलाकाएं हैं। असकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नसेवी दूसरे दोषका प्रायश्चित्त चार शलाकाएं हैं। दो शलाकाएं एकस्थान और क्षपण ऐसे एकसंयोगकी और दो शलाकाएं निर्विकृति पुरुमंडल और आचाम्ल एकस्थान ऐसे द्विसंयोगकी। ये शलाकाएं चौथी, पांचवी, छठी और तेरहवीं हैं। सकृत्कारी

१—अट्ठण्हं आदियंणे मिस्सं सलागाउ तिण्णि दायव्वा।
सेसाणं चत्तारिय पुध पुध ताणं सुणासु ठाणं ॥

असानुवीची यत्नप्रतिसेवी तृतीय दोषका प्रायश्चित्त द्विसंयोगकी चार शलाकाएं अर्थात् आठ शुद्धियां हैं। निर्विकृति-आचाम्ल निर्विकृति एकस्थान, आचाम्ल क्षमण और एकस्थान क्षमण। ये शलाकाएं क्रमसे सातवीं, आठवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं हैं। असकृत्कारी, असानुवीची अयत्नसंसेवी चौथे दोषका प्रायश्चित्त द्विसंयोगवाली चार शलाकाएं अर्थात् आठ शुद्धियां हैं निर्विकृति क्षमण, पुरुमंडल आचाम्ल, पुरुमंडल एकस्थान और पुरुमंडल क्षमण। ये शलाकाएं क्रमसे नौवीं, दशवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं हैं। सकृत्कारी, सानुवीची, अप्रयत्नसेवी पांचवें दोषका प्रायश्चित्त तीन संयोगवाली चार शलाकाएं अर्थात् बारह शुद्धियां हैं। निर्विकृति पुरुमंडल आचाम्ल, निर्विकृति पुरुमंडल क्षमण, पुरुमंडल आचाम्ल क्षमण और आचाम्ल एकस्थान क्षमण। ये शलाकाएं क्रमसे सोलहवीं अठारहवीं, तेइसवीं और पचीसवीं हैं। असकृत्कारी, सानुवीची, अप्रयत्नसेवी छठे दोषका प्रायश्चित्त तीन संयोगवाली चार शलाकाएं अर्थात् बारह शुद्धियां हैं। निर्विकृति पुरुमंडल एकस्थान,

१ पढम दुइज्ज तइआ, चउ पचमिया य छट्ठ तेरसमी।
सत्तम अट्ठम चोद्दसमी वि य पणारसी चेव॥

२ णवदस एक्कारसमी य बारसमी, तह य चेव, सोळसमी।
अट्ठारसमी वावीसिमा य पणवीसिमा, चेव॥

पांचवें दोषका ऊपर तेईसवीं शलाका बताई गई है और इस गाथामें बाईसवीं।

निर्विकृति आचाम्ल एकस्थान, निर्विकृति आचाम्ल क्षमण, और पुरुमंडल एकस्थान क्षमण। ये शलाकाएं क्रमसे सत्तरवीं उन्नीसवीं वीसवीं और चावीसवीं हैं। सकृत्कारी असानुवीचि अप्रयत्नप्रतिसेवी सातवें दोषका प्रायश्चित्त: त्रिसंयोगवाली दो और चतुःसंयोगवाली दो अर्थात् चौदह शुद्धियां एवं चार शलाकाएं हैं। निर्विकृति-एकस्थान-क्षमण और पुरुमंडल आचाम्ल एकस्थान, तथा निर्विकृति पुरुमंडल आचाम्ल एकस्थान और पुरुमंडल आचाम्ल एकस्थान क्षमण। ये शलाकाएं क्रमसे इक्कीसवीं, बाईसवीं, छव्वीसवीं और तीसवीं हैं। असकृत्कारी, असानुवीची अप्रयत्नप्रतिसेवी आठवें दोषका प्रायश्चित्त चतुःसंयोगवाली शलाकाएं तीन और पांचसंयोगवाली शलाका एक एवं चार शलाकाएं अथवा सतरह शुद्धियां हैं, निर्विकृति पुरुमंडल आचाम्ल क्षमण, निर्विकृति पुरुमंडल एकस्थान क्षमण, और निर्विकृति आचाम्ल एकस्थान क्षमण तथा निर्विकृति पुरुमंडल आचाम्ल एकस्थान क्षमण। ये शलाकाएं क्रमसे सत्ताईसवीं, अट्ठाईसवीं, उनतीसवीं

१ सत्तारसमी पगुणवीसमा वीसमा य चउवीसमा।
इगिवीसदिमा तवीसदिमा य छव्वीस तीसदिमा॥
सातवें दोषमें ऊपर बाईसवीं शलाका बताई गई है और इस गाथामें तेईसवीं।

२ सत्तावीसदिमावि य अट्ठावीसाय ऊणतीसदिमा।
इगतीसदिमा य इमा मिस्समलायाउ अट्ठण्हं॥

सर्वों और इकतीसवीं हैं। इस तरह आठदोषोंकी कुल शलाकाएं इकतीस और शुद्धियां अस्सी होती हैं। संदृष्टि—

३ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४

३ ६ ८ ८ १२ १२ १४ १७

यहां भी ऊपर शलाकाओंकी संख्या और नीचे शुद्धियों की संख्या है ॥ ७६ ॥

आलोचनादिकं योग्ये कायोत्सर्गोऽथ सर्वकं।
तपः आदि कच्चिद्देयं यथा वक्ष्ये विधिं तथा ॥

अर्थ—योग्य-व्यक्तिके दोषोंको जानकर आलोचना, आदि शब्दसे प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक इनमेंसे एक या दो या तीन अथवा चारों प्रायश्चित्त देवें और कायोत्सर्ग भी देवे। अथवा सभी आलोचनादि दश तरहके प्रायश्चित्त देवे। तथा किसी व्यक्ति विशेषको तप, आदि शब्दसे छेद मूल, परिहार और श्रद्धा ये पांच प्रायश्चित्त देवें ॥ ७७ ॥

ये सब प्रायश्चित्त जिस विधिसे देने चाहिए, उसविधिको आगे कहते

यदभीक्ष्णं निषेव्येत परिहर्तुं न याति यत्।
यदीषच्च भवेत्तत्र कायोत्सर्गो विशोधनं ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो निरंतर सेवन करनेमें आते हैं, जो त्यागने म नहीं आते हैं और जो स्तोक हैं उन दोषोंका प्रायश्चित्त कायो त्सर्ग है। भावार्थ-चलना-फिरना आदि जो दोष हैं जो निर

तर करने पड़ते हैं। भोजन पान करना भी दोष ही है। ये ... दुस्त्याज्य हैं। सारांश—इन कर्तव्योंके करनेपर ... नामका प्रायश्चित्त लेना चाहिए ॥ २८ ॥

अपमृष्टपरामर्शे कंड्वाकुंचनादिषु ।
जल्लखेलादिकोत्सर्गे कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ॥

अर्थ—अप्रतिलेखित शरीरादि वस्तुओंसे स्पर्श हो जाने पर, खाज खुजाने हाथ पैर आदिके फैलाने सिकोड़ने आदि क्रियाके करने पर, और मल, थूक, आदि शब्दसे खकार आदि शारीरिक मल आदिके त्यागने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ २९ ॥

तंतुच्छेदादिक स्तोके संक्लिष्टे हस्तकर्मणि ।
मनोमासिकसेवायां कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ॥

अर्थ—तंतु (धागा) तोड़नेका, आदिशब्दसे तृण वगैरहके तोड़नेका, अल्प संक्लेश उत्पन्न करनेका, पुस्तक आदिके संचय करनेरूप हस्तकर्मका और इस उपकरणको इतने दिनोंमें बनाकर तयार करूंगा इस प्रकार मनसे चिंतवन करनेका प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग है ॥ ३० ॥

मृदाथवा स्थिरैर्वीजैर्हरिद्भिस्त्रसकायकैः ।
संघट्टने विपश्चिद्भिः कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ॥

अर्थ—मिट्टीसे, स्थिरबीजोंसे और हरे तृण आदिसे तथा

अम कायके साथ हाथ पैरोंका संघर्षण हो जाय तो विद्वानोंने इसका प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग करना बताया है। जो गेहूं आदि को बीज कहते हैं। मर्दन करने (मसलने-कुचलने) पर भी जो बीज नष्ट न हों उन्हें स्थिर बीज कहते हैं ॥ ३१ ॥

पांश्वालिप्तपदस्तोये विशेद् वा विपरीतकः ।
पुरुमंडलमाप्नोति कल्याणं कर्दमार्द्रपात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिसके पैरोंपर धूल लिपट रही है वह यदि पानीमें घुस जाय अथवा जिसके पैर गीले हैं वह यदि अपने पैर धूलमें रख दे तो उसका प्रायश्चित्त पुरुमंडल है। तथा कीचड़ लिपटे पैरोंसे पानीमें चला जाय तो उसका प्रायश्चित्त एक-कल्याणक (पंचक) है ॥ ३२ ॥

हरित्तृणे सकृच्छिन्ने छिन्ने वानन्तके त्रसे ।
पुरुमंडलमाचाम्लमेकस्थानमनुक्रमात् ॥ ३३ ॥

अर्थ—हरे तृणोंके एक बार छेदन-भेदनका प्रायश्चित्त पुरु-मंडल है। सूरण, गड्डा, स्नुही, मूल, आदा आदि अनन्त-कायिक जीवोंके छिन्न भिन्न करनेका प्रायश्चित्त आचाम्ल है (जिन वनस्पतिके मूलमें शाखाग्राम, पत्रामें अनन्तस्थान शरीर हों एक एक शरीरमें अनन्त २ जीव निवास करते हों एक जीवके मरने पर अनन्तोंका मरण होता हो और एकके उत्पन्न होने पर अनन्त उत्पन्न होते हों वे जीव अनन्त कायिक हैं) तथा दो इंद्रिय तीन इन्द्रिय आदि त्रस जीवोंके छेदन-भेदन करनेका

प्रायश्चित्त एकस्थान है। छेदनका अर्थ जानसे मार देनेका नहीं है किन्तु उन चोरोंके एक देशके खंडन करनेका है। जानसे मार देनेका प्रायश्चित्त जुदा है। यह प्रायश्चित्त उनके एक देश खंडनमें है ॥ ३३ ॥

प्रत्येकेऽनन्तकाये वा त्रसे वाथ प्रमादतः।
आचाम्लं चैकसंस्थानं क्षमणं च यथाक्रमं ॥३४॥

अर्थ—जो छिन्न-भिन्न करने पर न उगे और जिसके एक शरीरका स्वामी एक ही जीव हो ऐसे सुपारी नारियल आदि प्रत्येक कायिक हैं। इन प्रत्येककायिक वस्तुओंको प्रमाद-पूर्वक छिन्न भिन्न करनेका प्रायश्चित्त आचाम्ल—कांजिकाहार है। प्रत्येककायिकसे विपरीत अनन्तकायिक होते हैं जिनका स्वरूप ऊपरके श्लोकमें बता चुके हैं उन अनन्तकायिक वस्तुओं को प्रमाद-पूर्वक छिन्न-भिन्न करनेका प्रायश्चित्त एकसंस्थान है। तथा प्रमादसे दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवोंके छेदन-भेदनका प्रायश्चित्त उपवास है ॥ ३४ ॥

व्यापन्ने सन्निधौ देया निष्प्रमादप्रमादिनोः।
पंच स्युर्नीरसाहाराश्चैकं कल्याणकं त्रमे ॥३५॥
आभीक्ष्ण्ये पंचकल्याण पंचाक्षे चापि दर्पतः।
।।द [illegible] सकृदप्युपयोगतः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कमंडलु भेषज आदि भाजनोंको सन्निधि कहते हैं

विरतेभ्यो गृहस्थेभ्यो न यत्नकथिते हते ।
वृश्चिकादौ गृहस्थेन क्षमणं पंचकं क्रमात् ॥२३॥

अर्थ—विरतों और गृहस्थोंके निमित्त यत्नपूर्वक व अयत्नपूर्वक कहने पर कोई अविरत गृहस्थ बिच्छू आदि जन्तुओंको मार दे तो उसका प्रायश्चित्त क्रमसे क्षमण और पंचक है। भावार्थ—यत्नपूर्वक कहने पर यदि उपद्रव हो तो प्रायश्चित्त क्षमण और अयत्नपूर्वक कहने पर और उसका पंचकल्याणक है। पंचक यह कल्याणकी संज्ञा है। यह इसलिये कि यह कल्याणक पांच दिनमें समाप्त किया जाता है ॥२३॥

विरतेभ्यो गृहस्थेभ्यो न यत्नाभिहिते हते ।
सर्पादौ तु गृहस्थेन कल्याणं मासिकं पृथक् ॥२४॥

अर्थ—विरतों या गृहस्थोंके निमित्त यत्न अथवा अयत्नपूर्वक कहनेपर कोई गृहस्थ सर्प गोनस (गाय) आदिको मार दे तो उसका प्रायश्चित्त क्रमसे एककल्याणक पंचकल्याणक है। भावार्थ—यत्नपूर्वक कहने पर मारनेका एक कल्याणक अयत्नपूर्वक कहने पर मारनेका पंचकल्याणक है॥

संयतेभ्यः प्रयत्नेन विषाणि कथिते हते ।
गृहस्थेनापि संशुद्धो वाक्समित्या युतो यतः ॥२५॥

अर्थ—संयतोंके निमित्त प्रयत्नपूर्वक—ऋषिभाषाम विषी (सर्प) है यह कहने पर कोई गृहस्थ उसे मार दे तो वह निर्दोष है क्योंकि वह भाषासमितिसे युक्त है ॥२५॥

आगाढकारणाद्वन्हिर्निर्वात्यानीयमानकः।
पंच स्युर्नीरसाहाराः कल्याणं वा प्रमादिनि ॥४२॥

अर्थ—ऋषियोंको यदि उपसर्ग हो या रोग आदि हो इस हेतुसे लाई हुई अग्नि बुझा दे तो उसका प्रायश्चित्त पांच नीरस आहार (निर्विकृतियां) अथवा प्रमादवान् पुरुषके लिए एक कल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ४२ ॥

ग्लानार्थं तापयन् द्रव्यं वन्हिज्वालां यदि स्पृशेत्।
पंच स्यू रूक्षभक्तानि कल्याणं च मुहुर्मुहुः ॥४३॥

अर्थ—बीमार पुरुषके निमित्त उसका शरीर या और कोई उपकरण तपाते हुए यदि एक बार अग्निकी ज्वाला (लौ)-का स्पर्शन करे तो उसकी शुद्धि पंच निर्विकृति आहार है और यदि बार बार स्पर्शन करे तो उसका प्रायश्चित्त एककल्याणक है ॥

विभावसोः समारंभं वैद्यादेशाद्यदि स्वयं।
अनापृच्छ्यानुगं कुर्यात् पंचकल्याणमश्नुते ॥४४॥

अर्थ—यदि आचार्यको न पूछकर केवल वैद्यके कहनेसे स्वयं अपने आप अग्नि जलानेका आरम्भ करे तो वह पंच-कल्याणकको प्राप्त होता है। भावार्थ—इस तरहके आरम्भका प्रायश्चित्त पंचकल्याण है ॥ ४४ ॥

विदध्याद् ग्लानमापृच्छ्य वैयावृत्यकरोऽथवा।
तस्य स्यादेककल्याणं पंचकल्याणमातुरे ॥ ४५

अर्थ—अथवा वह वैयावृत्य करनेवाला रोगीको पूछ अग्नि जलावे तो उसके लिए एककल्याणक और उस रोगी लिए पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ४५ ॥

कारणादामलादीनि सेवमानो न दुष्यति ।
विल्वपेश्यादि चाश्नाति शुद्धः कल्याणभागथ ।४६।

अर्थ—व्याधिके निमित्त आमले, हरड़ा, बहेरड़ा, आदि चीजोंका सेवन करनेवाला दोषी नहीं है—निर्दोष है और बिल्वखंड, आम, करोंदे, बीजपूर (बिजौरा) आदि प्रासुक चीजोंको जो खाता है वह भी निर्दोष है परन्तु जो व्याधिरहित होते हुए यदि सेवन करता है तो कल्याणकप्रायश्चित्तका भागी है ॥ ४६ ॥

रसधान्यपुलाकं वा पलांडुसूरणादिकं ।
कल्याणमश्नुतेऽश्नन्वा मासं कर्कोलकादिकं ।४७।

अर्थ—जो पुरुष व्याधिसहित होता हुआ यथालाभ (लाभानुसार) सेवन करते हुए भी तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल, मधुर और लवण इन छह रसोंको और शाली, व्रीही अर्थात् भात आदिका परिमाणसे अधिक सेवन करता है अथवा, लसुन सूरण, कंद, गिलोय आदि अनंतकाय चीजोंका सेवन करता है

वह कल्याणकको प्राप्त होता है। तथा व्याधिरहित नीरोग होकर इलायची, लौंग, जातिफल, जावीत्र, सुपारी आदिका सेवन करता है वह पंचकल्याणकको प्राप्त होता है। भावार्थ— रुग्ण अवस्थामें अत्यन्त लोलुपताके साथ छहों तरहके रस और आहार तथा लसुन आदि अनंतकाय चीजोंके सेवन करनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है। तथा नीरोग हालतमें इलायची, सुपारी आदि चीजोंके खानेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है॥

कान्दर्प्ये यन्मृषावादे मिथ्याकारेण शुद्ध्यति ।
अननुज्ञातमंशून्यखलादिकमलोज्झने ॥ ४९ ॥

अर्थ—कामकी उन्मत्तताके कारण थोड़ा असत्य बोलने पर 'मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो' इस तरहके वचनमात्रसे शुद्ध निर्दोष हो जाता है। तथा आगममें निषिद्ध और निर्जन एसे खलियान, खेत, तालाव, वृक्षोंकी जड़ आदि स्थान जहां मलोत्सर्ग करनेमें लोक नाराज होते हों वहां मलोत्सर्ग करने पर भी मिथ्याकार वचनसे शुद्ध हो जाता है॥ ४९॥

जघन्यं तुल्यमूल्येन गृह्णानोऽपि विशुद्ध्यति ।
उत्कृष्टं मध्यमं वाथ गृह्णतो मासिकं भवेत् ॥५०॥

अर्थ—जघन्य, अथवा मध्यम, अथवा उत्कृष्ट चीजोंको जो समान मूल्यम खरीदता है वह विना प्रायश्चित्तके शुद्धिको प्राप्त होता है। और यदि चोर डाकू आदिसे लेता है तो उसका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है। भावार्थ—यह मुनियोंके

श्चित्तका ग्रन्थ है अतः यहां उन्हीं चीजोंका संबंध लगाना चाहिये जिनका मुनि धर्ममें कुछ संबन्ध है। यहां दवात-कलम, नेत्रपत्ता आदि लिखनेकी चीजें जघन्य हैं। पत्रमाति-पट्टी, कमंडलु आदि मध्यम चीजें हैं। सिद्धान्त-पुस्तक आदि उत्कृष्ट चीजें हैं। ऐसी जघन्य चीजें जघन्यमूल्यमें, मध्यम मध्यम मूल्यमें और उत्कृष्ट उत्कृष्ट मूल्यमें अथवा उत्कृष्ट और मध्यम चीजें जघन्यमूल्यमें और जघन्य चीजें कम मूल्यमें खरीद करे वहां तक विशुद्ध है। हां ! यदि चौर डाकू आदिसे ये चीजें ले तो वह अवश्य दोषी है अतः इस दोषसे उन्मुक्त होनेका प्राय-श्चित्त पंचकल्याणक है ॥ ५० ॥

तृणपंचकसेवायां स्यान्निर्विकृतिपंचकं ।
दूष्याजिनासनानां च कल्याणं पंचकं सकृत् ॥५१॥

अर्थ—शाली, व्रीही कोद्रव, कगु और रवक इनको तृण-पंचक कहते हैं इनके सेवन करनेका प्रायश्चित्त पांच निर्विकृति आहार है। तथा वस्त्र पंचक, चर्मपंचक और आसन पंचकके एकवार उपभोग करनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है। दूष्य, प्रवार, चूरपट, क्षौम और वस्त्र ये पांच अथवा अण्डज, बोंडज, बालज, वल्कलज, और शृङ्गज ये पांच पंचक होते हैं। व्याघ्र-चर्म, भल्लूकचर्म, हरिणचर्म, मेषचर्म और अजाचर्म ये पांच अजिन या चर्म पंचक हैं। तथा लोहासन, दंडासन, मासंदक, आयाणइक, और पीतिक ये पांच आसनपंचक हैं ॥ ५१ ॥

पंचकेऽप्रतिलेख्यस्य मासः स्यात् सेवने सकृत् ।
संदंशाच्छेदसूच्यादिधारणे शुद्ध एव हि ॥ ५२ ॥

अर्थ—पांच प्रकारके अप्रतिलेख्योंके एक बार सेवन करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है। जो शोधनेमें न आवे उसे अप्रतिलेख्य कहते हैं। उसकी संख्या पांच है। तथा संदंश (संडसी) नखलु, सूई, आदि शब्दसे पत्रवेधनी सलाई आदि चीजें पास रखने पर शुद्ध ही है अर्थात् इनके ग्रहण करनेका कोई प्रायश्चित्त नहीं ॥ ५२ ॥

संस्तरस्य निपद्यायास्तदिकाया उपासने ।
घटीसंपुटपट्टस्य फलकस्य न दूपिका ॥ ५३ ॥

अर्थ—सांथरा, बैठनेकी चटाई, कमंडलु, संपुट (कटोरे या दोनेके आकारकी वस्तु) आसन और फलक (लकड़ीकी पाड़ या तख्त) इन चीजोंको काममें लेनेमें कोई दोष नहीं है ॥ ५३ ॥

उपधौ विस्मृतेऽप्युत्कृष्टेर्मध्यमेऽथ जघन्यके ।
क्षमणं कंजिकाहारं पुरुमंडलमेव च ॥ ५४ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संयमोपकरणक विस्मृत कर देनेका प्रायश्चित्त क्रमसे उपवास, आचाम्ल और पुरुमंडल है ॥

दुःस्थापितोपधेर्नाशे सर्वत्रोत्कृष्टमध्यमे ।
जघन्ये मासिकं षष्ठं चतुर्थं कंजिकाशन ॥५५॥

अर्थ—अच्छी तरह नहीं रक्खा गया अतएव नष्ट हो गया

ऐसे सब तरहके संयमोपकरण (के नाश)-का प्रायश्चित्त पंच-कल्याणक है। तथा अच्छी तरह नहीं रखते हुए उत्कृष्ट संयमोपकरणके नाशका प्रायश्चित्त एक षष्ठ (वेला) मध्यमका एक उपवास और जघन्यका आचाम्ल प्रायश्चित्त है। सिद्धान्त पुस्तकादि उत्कृष्ट संयमोपकरण पिच्छी आदि मध्यम संयमोपकरण और कमंडलु आदि जघन्य संयमोपकरण होते हैं॥

पुरुषान्न तदर्धं वा त्रिभागं वा समुत्सृजन्।
अभोजनमथाचाम्लं पुरुमंडलमश्नुते ॥ ५६ ॥

अर्थ—जितनेसे एक पुरुषका पेट भर सकता है उतना आहार छोड़ देनेवाला एक उपवास प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। उससे आधा या तिहाई छोड़ देनेवाला आचाम्ल प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। तथा स्वल्प थोड़ासा आहार छोड़ देनेवाला पुरुमंडल प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है॥ ५६॥

आगंतुकगृहे सुप्तः सार्द्रसोदकवन्हिके।
सागारैरप्यवेलायां शुद्ध एव स चेत्सकृत्॥५७॥

अर्थ—जो स्थान गीला है, जिसके निकट पानी है और अग्नि जल रही है ऐसे आनेजानेवाले रास्तागिरोंके लिए बनाये हुए धर्मशालादि स्थानोंमें, गृहस्थोंके साथ, सोनेके असमयमें यदि एक बार कोई साधु सो जाय तो वह शुद्ध ही है—उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है॥ ५७॥

वर्षास्वतुच्छकार्येण हिमे ग्रीष्मे लघीयसि ।
योजनानि दश द्वे च कार्ये गच्छन्न दोषभाक् ॥

अर्थ—वर्षा ऋतुमें देव और आर्यसंघ संबन्धी कोई बड़ा कार्य तथा शीतकाल और ग्रीष्मकालमें छोटा कार्य आ उपस्थित हुआ तो उस कार्यके निमित्त बारह योजन तक कोई साधु चला जाय तो वह दोषी नहीं है, बारह योजनसे ऊपर गमन करनेवाला प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

ऋतुबंधमतिक्रामेन्मासेनाकारणाद्यदि ।
लघुमासो गुरुः स स्यात् सर्ववर्षाविभेदिनि ॥५९॥

अर्थ—किसी कार्यके अर्थ कहीं अन्यत्र जाना पड़े, वहां कार्य एक महीनेका ही है उससे अधिक समय बिना ही कारण व्यतीत कर दे तो उसका प्रायश्चित्त लघुमास है। यदि सारा वर्षाकाल बिता दे तो उसका प्रायश्चित्त गुरुमास है ॥ ५९ ॥

दर्पतः पंचकल्याणं मारीनाड्यादिकेलिषु ।
हेतुवादे तु कल्याणं शुद्धो वा विजये मति ॥६०॥

अर्थ—मदकारवश मारी नाड़ी आदि क्रीड़ा करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याण है। मारी नाम जुआ खेलनेके उपकरणका चौपटका है। नाड़ी हाथकी पांचों नालोंका नाड़ा कहते हैं यह एक प्रकारका वशका उपकरण है। अथवा राजाने कहा कि श्रमण शास्त्र आदि कुछ भी नहीं जानते उनके इस कहने

पर अहंकारपूर्वक उन लोगोंके वादमें लग गये तो उनका प्राय-
श्चित्त एक कल्याणक है। तथा हेतुवाद अर्थात् न्याय शास्त्रके
वाद विवादमें लग जाये और पराजय हो जाय तो उसका
प्रायश्चित्त कल्याणक है। अगर विजय हो जाय तो कुछ भी
प्रायश्चित्त नहीं है॥ ६० ॥

धूलिप्रहेलिकागाथाचक्रच्युतान्ताक्षरोक्तिषु ।
तृणपासविपाशेऽपिपुरु मंडलमीरितं ॥ ६१ ॥

अर्थ—पांशुक्रीड़ा (धूलिके खेल) परस्पर पहेलियां बोलना,
गाथाचतुष्टय बोलना, अन्त अक्षरका जानकर उसका म-
पूछना, पद चक्र, वचन-प्रति वचन कहना, तृणबंध छु-
इत्यादि अनेक बातें हैं उनमें लग जानेका प्रायश्चित्त पुरु
कहा गया है॥ ६१ ॥

धातुवादेऽथ योगादिदर्शने द्रव्यनाशने ।
स्वपक्षैर्वीक्षिते देयं कल्याणं मासिकं परैः ॥६

अर्थ—धातुवाद, योगादिदर्शन और द्रव्यनाशन
विषयोंका यदि अपने पक्षके लोग देख लें तो उसका
श्चित्त कल्याणक देना चाहिए और यदि परपक्षवाले मि-
दृष्टि लोग देख लें तो पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहि
सोना चांदी आदि धातुओंमें क्रियाओं द्वारा वर्णकी उत्प
आदि दिखाना धातुवाद है। कपूर, कस्तूरी, केशर, कु

आदि सुगंधियुक्त कृत्रिम द्रव्य बना देना धात्वादिदर्शन क्रिया है। दही दूध आदि नाना प्रकारकी चीजोंको नष्ट कर देना द्रव्यनाश है। इस तरहकी क्रियाएं विशेष प्रयोगों तथा मन्त्र आदिके जरिये की जाती हैं ॥ ६२ ॥

समासाद्यंगसंघर्षसूत्रकंदुककेलिषु ।
पणने नखपिच्छाहिजंघावीणादिवादने ॥ ६३ ॥
स्वपक्षेर्वीक्षिते देयाद्भुतक्रीडाप्रदर्शने ।
पुरुमंडलमुद्दिष्टं कल्याणं च परेक्षिते ॥६४॥ युग्मं

अर्थ—एक पद्य, आदि शब्दसे काव्य, पद्यका आधाभाग चौथाई भाग आदि समासादि हैं इनकी रचना न जानते हुए भी स्पर्धा करना कि मैं ने यह एक श्रव्य (सुनने योग्य) काव्य बनाया है वैसा आप भी बनाइये. मैं ने यह श्लोकका पूर्वार्ध बनाया है आप [illegible] उत्तरार्ध बनाइये. मैं ने यह श्लोकका पाद (चौथा हिस्सा) बनाया है आप भी इसमें मिलता जुलता दूसरा पाद बनाइये इत्यादि समासादि क्रीडा है। परस्परमें एक दूसरेके शरीरका मर्दन करना अङ्गमर्दन क्रीडा है. सूतक्रीडा [illegible] गेंद आदिसे खेल कंदुकक्रीडा है, इत्यादि क्रीडामात्र [illegible] करना। [illegible] तथा नख, पिच्छी, पैर आदि [illegible] द्वारा वीणा [illegible] बाजे बजाना तथा किसी बीभत्स [illegible] द्वारा प्रदर्शन [illegible] कराना इस

तरहकी मूत्रक्रीड़ा दिखाना। इन सब क्रीड़ाओंको करते हुए यदि स्वपक्ष अपने धर्मावलंबी देखलें तो पुरुमंडल प्रायश्चित्त देना चाहिए और यदि विधर्मी लोग देख लें तो कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

मनसा काममापन्ने निंदातीव्राभिलापिणि ।
मासो मैथुनमापन्ने चतुर्मासा गुरूकृताः ॥ ६५ ।

अर्थ—'काम सेवन करूं' इस प्रकार प्रथम मनमें कामरूप परिणत होनेके पश्चात् हाय ! मुझ पापबुद्धि मंदभाग्यने बुरा चितवन किया इस प्रकार आत्मामें निन्दा कर अनन्तर उसमें तीव्र अभिलापी होने पर अर्थात् मनसे चितवन करनेके अनन्तर कामोद्रेक होनेसे तीव्र अभिलाषा युक्त होने पर पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा मैथुन सेवन कर लेने पर गुरुकृत अर्थात् एकान्तरोपवासपूर्वक चार मास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ६५ ॥

मासः सौंदर्यवीर्यार्थं रसायननिषेवणे ।
विशुद्धो द्विविधे हासे कल्याणं तु सकृत्कुचे ॥ ६६ ॥

अर्थ—शरीरमें सुन्दरता लाने और बल बढानेके लिये औषधि सेवन करनेका पंचकल्याण प्रायश्चित्त है। दो तरहकी हँसी हँसनेका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। एक—हाथोंसे मुख ढँक कर हंसना, दूसरी—ओठोंको थोड़ा खोल कर हंसना, यह

संयतोंको दो तरहकी हंसी है। तथा जिस हंसीके हंसनेमें सारा शरीर हलने लग जाय तो उसका मायश्चित्त एक कल्याणक है ॥ ६६ ॥

मृद्धरित्त्रसगर्ताम्बु परिहर्तुं विलंघने।
मार्गे सत्यपि कल्याणं विशुद्धः पथिवर्जितः ॥६७॥

अर्थ—मिट्टीका ढेर, हरी घास, दोइन्द्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय पंचेन्द्रिय त्रस जीव, खड्डा, और जल इन चीजोंको रास्ता होते हुए भी उनसे बचनेके लिए उन्हें लांघ कर जाय तो कल्याणक मायश्चित्त है। तथा मार्ग न होनेके कारण इन्हें लांघना पड़े तो कोई मायश्चित्त नहीं है ॥ ६७ ॥

मोट्टायनांगुलिस्फोटे पुरुमंडोऽपवीक्षणे।
कल्याणं पंचकल्याणं कटाक्षेऽसंज्ञिवीक्षते ॥६८॥

अथ—मुखसे 'टच' करने और अंगुली चटकानेका मायश्चित्त पुरुमंडल है। टेढ़ी नजरसे देखनेका मायश्चित्त एक कल्याणक है। तथा कटाक्षभरी दृष्टिसे देखनेका जिसको कि मिथ्यादृष्टि देख लें तो पंचकल्याणक मायश्चित्त है ॥ ६८ ॥

ज्ञानगर्वादिभिर्मत्तो रत्निनो योऽपमन्यते।
तद्दर्पदोषघाताय पंचकल्याणमश्नुते ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो ज्ञानमद, जातिमद, कुलमद, आदि मदोंसे उन्मत्त होकर रत्नत्रयधारी साधुओंका अपमान करता है वह

अपने उस दर्पजन्य दोषके घात-विनाश करनेके लिए पंच-कल्याणको प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥

समुत्पन्नक्षणोद्ध्वस्ते मिथ्याकारः कषायके ।
स्यात्कल्याणमहोरात्रे मासिकं च ततः परं ॥७०॥

अर्थ—कषाय उत्पन्न होकर अनन्तर क्षणमें नष्ट हो जाय तो 'मिच्छा मे दुक्कडं' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो इस प्रकारका प्रायश्चित्त है। यदि अनन्तर क्षणमें मिथ्याकार न करे और एक दिन-रात बीत जाय तो उसका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है। इससे ऊपर पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ७० ॥

विकथासु पुरुमदः स्यादाभीक्ष्ण्ये च पंचकं ।
तात्पर्ये दृक्छ्रुतो गर्हा कल्याणं निर्गते वहिः ॥७१॥

अर्थ—एक बार स्त्रीकथा आदि विकथाओंके करनेका प्रायश्चित्त पुरुमदल है। बार बार करनेका पंचक है। ललित, लास्य, तांडव आदि नृत्य विशेषोंको उपयोग लगा कर देखनेका और षड्ज, ऋषभ, गांधार, पंचम, धैवत और निषाद इन छह स्वरोंका मन लगा कर सुननेका प्रायश्चित्त गर्हा—आत्म-निंदा है। तथा वसतिकासे बाहर निकलकर इनके देखने सुननेका प्रायश्चित्त कल्याणक है ॥ ७१ ॥

---

१ उप्पण्णंपि कसाए मिच्छाकारं न तक्खणे कुणइ।
पणगमहोरत्तम्हि तेण परं मासियं छेदो ॥ १ ॥

रूक्षभक्तं विजीवेऽपि सजीवे पुरुमंडलं।
आभीक्ष्ण्ये च निवृत्ते च घ्राते पंचकमुच्यते ॥७२॥

अर्थ—निर्जीव वस्तुका सूंघनेका प्रायश्चित्त निर्विकृति, सचित्तको सूंघनेका पुरुमंडल, बार बार सूंघनेका और त्याग की हुई वस्तुको सूंघनेका प्रायश्चित्त कल्याणक है ॥७२॥

सेवमाने रसान् गृद्ध्या पंचकं वा न दोषता।
शीतवातातपानेवं सेवमानो विशुद्ध्यति ॥७३॥

अर्थ—दूध, दहि, गुड़ आदि छह तरहके रसोंको लोलुपता पूर्वक सेवन करनेका प्रायश्चित्त कल्याणक है। यदि ये रस यथालाभ प्राप्त हों तो उनके सेवनमें कोई दोष नहीं है—अर्थात् उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है। तथा अनासक्तिपूर्वक हवा, गर्मी और शीतको सेवन करने वाला भी शुद्ध है—प्रायश्चित्तका भागी नहीं है ॥ ७३ ॥

प्रावारसंस्तरमेवं संवाहं परिमर्दनं।
सर्वांगमर्दनं चैवाहेतोः पंचकमंचति ॥ ७४ ॥

अर्थ—व्याधि आदि कारणोंके विना, संयमी जनके अयोग्य और गृहस्थोंके योग्य वस्त्र ओढ़ने, शय्या पर सोने, थपथपी लगवाने, हाथ पैर दबवाने और तैल मालिस कराने पर कल्याणक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

उच्छीर्षस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य हृच्छदे ।
मस्तकावरणाद्देयं कल्याणं वा न दुष्यति ॥७५॥

अर्थ—तकिया लगाने, पिच्छीसे हृदय ढकने और सिर ढकनेका प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए। यदि व्याधिवश ऐसा कर ले तो उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ७५ ॥

छत्रोपानहसंसेवी शरीरावारकारकः ।
मार्गघर्माद्धि कल्याणं लभते शुद्ध एव वा ॥७६॥

अर्थ—रास्ते चलते समय नंगे पैर चलनेमें असमर्थ होनेके कारण पैरोंमें जूते पहन लेने और धूपके कारण पत्तोंका छत्ता बनाकर सिर पर तान लेने अथवा पत्तोंसे शरीरको ढक लेनेवाला कल्याणक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। यदि व्याधिवश उक्त कर्तव्य करे तो शुद्ध ही है, उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ७६ ॥

शयानः प्रथमे यामे काले शुद्धेऽपि पंचकात् ।
शुद्ध्यदथ विमंशुद्धो लभते पुरुमंडलं ॥ ७७ ॥

अर्थ—कालशुद्धि होने पर भी यदि शास्त्र पढ़े बिना प्रथम पहरमें सो जाय तो कल्याणक प्रायश्चित्तसे शुद्ध है और यदि कालशुद्धि रहित समयमें सो जाय तो पुरु-प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७७ ॥

शयालुर्दिवसे शेते चेत्कल्याणं समश्नुते।
अतोऽन्यस्य भवेद्देयो भिन्नमासो विशुद्धये ॥७८॥

अर्थ—जिसका सोनेका स्वभाव पड़ा हुआ है वह यदि दिनमें सो जाय तो कल्याणको प्राप्त होता है अर्थात् उसे कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए। और जिसका स्वभाव सोनेका नहीं है वह यदि दिनमें सो जाय तो उसका उसकी शुद्धिके लिए भिन्नमास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ७८ ॥

हस्तकर्मणि मासार्हं गुरौ लघुनि पंचकं।
शुद्धश्च पंचकं मासश्चतुर्मास्यां लघौ गुरौ ॥७९॥

अर्थ—एक महीने भरमें बनाकर तयार करनेयोग्य पुस्तक कमंडलु आदि चीजोंको निरंतर बनाता रहे अथवा अप्रासुक द्रव्यसे बनावे तो कल्याणक प्रायश्चित्त है और यदि लघु अर्थात् स्वाध्याय-व्याख्यानको न छोड़ कर अवकाशके समयमें प्रासुक वस्तुसे तयार करे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है। तथा यदि चार महीनेमें हस्तकर्म अर्थात् पुस्तक कमंडलु आदि यथावसर प्रासुक द्रव्यसे तयार करे तो कल्याणक प्रायश्चित्त है और यदि गुरु अर्थात् स्वाध्याय छोड़कर निरंतर अप्रासुक द्रव्यसे तयार करे तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ७९ ॥

पार्श्वस्थानुचरे बाह्यश्रुतिशिक्षणकारणात्।
करणीकाव्यशिक्षायै मिथ्याकारोऽथ पंचकं ॥८०॥

अर्थ—न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, कोष आदि बाह्य

शास्त्रोंका तथा ज्योतिष गणित आदि करणशास्त्र और योग आदि संबन्धी कार्योंकी शिक्षाके निमित्त यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपसे बहिर्भूत (रहित) पार्श्वस्थकी कोई मुनि सेवा या उपकार करे तो उस मुनिके लिए मिथ्याकार प्रायश्चित्त है। और यदि इन कारणोंके विना पार्श्वस्थका उपकार करे तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ८० ॥

व्याधौ सुदुस्सहे यत्नाद्भेपजे प्रासुके कृते।
मिथ्याकारोऽथ कल्याणमयत्नान्मासपंचके ॥८१॥

अर्थ—असह्य व्याधिके होने पर यत्नपूर्वक प्रासुक औषधि करनेमें मिथ्याकार प्रायश्चित्त और सह्य (सहन करने योग्य) व्याधिके होने पर यत्नपूर्वक प्रासुक औषधि करनेमें कल्याणक प्रायश्चित्त है। तथा अयत्नपूर्वक अच्छी तरह सहन करनेयोग्य व्याधिके होने पर औषधोपचार करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक और दुःसह व्याधिके होने पर औषधोपचार करनेका कल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ८१ ॥

समित्यासादने शोके मिथ्याकारश्चिरं धृते।
अश्रुपाते च कल्याणं रमगृद्धे डिलापिनि ॥८२॥

अर्थ—ईर्यापथ आदि पांच समितियोंका आसादान अर्थात् विस्मरण हो जाने पर पातुर्वर्ग्यका वियोग हो जाने पर

पुत्रक आदिके फट जाने पर थोड़ा शोक करनेका प्रायश्चित्त मिथ्याकार वचन है। तथा इस शोकको बहुत काल तक करते रहने, आंसु डाल डालकर रोने और दधि दुग्ध आदि रसोंमें अत्यासक्ति होने पर दूसरेको कहनेका कल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ८२ ॥

सचित्ताशंकिते भग्ने स्यादकेस्थितिदंडनं।
बहुजीवे भवेन्निन्दा सजीवे भक्तवर्जनं ॥ ८३ ॥

अर्थ—क्या यह सचित्त है या सचित्त नहीं है इस तरह आशंका हो जाने पर उस वस्तुके मर्दन कर देनेका एकस्थान दंड है। बहुतसी प्रासुक चीजोंको मर्दन करनेका प्रायश्चित्त आत्म-निंदा करना है तथा सजीव चीजोंको मर्दन करनेका उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ८३ ॥

शय्यायामुपधौ पिंडे शंकायामुद्गमेहते।
उत्पादेश्चतुर्मास्यां मासो मासेऽपि पंचकं ॥ ८४ ॥

अर्थ—शय्या, उपकरण और आहारमें शंका हो गई हो कि क्या यह आहार सदोष है या निर्दोष। तथा उद्देशिकादि सोलह उद्गमदोष और धात्रीदूत आदि सोलह उत्पाद दोष संयुक्त आहार ग्रहण कर लिया हो और चार माह बीत गये हों तो उसका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है और एक महीना व्यतीत हुआ हो तो एक कल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ८४ ॥

कल्याणमेषणादोषे दायके पुरुमंडलं।
मिश्रेऽपरिणते मासो भिन्नः समनुवर्णितः ॥८५॥

अर्थ—शंकितादि दश एषणादोषोंका प्रायश्चित्त कल्याणक, प्रसूति आदि अनेक प्रकारके दायकदोषका प्रायश्चित्त पुरुमंडल तथा आधे रंधे हुएमें जल चांवल छोड़ देनारूप मिश्रदोष और आधासीझा हुआ आहाररूप अपरिणत दोषका प्रायश्चित्त भिन्नमास कहा गया है ॥ ८५ ॥

निर्दोषोऽत्यंततात्पर्यादल्पानल्पे प्रलेपने।
स्तोकेऽयत्नात्पुरुमर्दः कल्याणं बहुलेपने ॥८६॥

अर्थ—जिस शून्यस्थानमें वर्षाकालमें गड्ढे पड़ गये उसको यत्नपूर्वक प्रासुक गोमय, जल आदिसे अल्प या बहुत लीपने पर निर्दोष है। और अयत्नपूर्वक थोड़ा लीपनेका पुरुदंडन प्रायश्चित्त और बहुत लीपनेका कल्याणक प्रायश्चित्त है।

अल्पलेपे च यत्नेन पश्चात्कर्मणि शुद्ध्यति।
अल्पलेपेऽप्ययत्नेन दंडनं पुरुमंडलं ॥ ८७ ॥

अर्थ—ठहरनेके स्थानको पश्चात्कर्म (अवश्य करने योग्य कर्म) में यत्नपूर्वक थोड़ा लीपे तो शुद्ध है—कोई प्रायश्चित्त नहीं तथा अयत्नाचारपूर्वक थोड़ा भी लीपे तो उसका प्रायश्चित्त पुरुमंडल है ॥ ८७ ॥

बहुलेपेऽप्ययत्नेन पंचकं वा न दोषयुक्।
अयत्नेनोभयं (मे) वापि स्वस्थानेन विशुद्धयति ॥

अर्थ—असावधानीसे बहुतसा लीपनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है और सावधानीसे बहुतसा लीपनेका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। तथा पुराकर्म और पश्चात्कर्ममें अयत्नपूर्वक लीपने पर पंचकल्याणकसे शुद्ध होता है अर्थात् इसका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ८८ ॥

दद्त्याः संप्रमर्द्याने प्रत्येकानन्तकौ त्रसं।
पुरुमंडलमाचाम्लमेकस्थानं निषेवते ॥ ८९ ॥

अर्थ—प्रत्येककाय, अनन्तकाय और त्रसकायका मर्दन कर परिवेषिका—आहार देनेवालीसे आहार ग्रहण करे तो क्रमसे पुरुमंडल, आचाम्ल और एकस्थान प्रायश्चित्त है। भावार्थ—*प्रत्येक वनस्पतिके मर्दनका पुरुमंडल, साधारण वनस्पतिके* मर्दनका आचाम्ल और द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंके मर्दनका एकस्थान प्रायश्चित्त है ॥ ८९ ॥

भीत्वोन्मार्गं प्रपद्येत नरूमारोहति क्षिपत्।
काष्ठादिकं विलद्वारपिधाने पंचकं न वा ॥ ९० ॥

अर्थ—डर कर उन्मार्ग—ऊजड मार्ग होकर चलने लग जाय, वृक्षपर चढ जाय या लकड़ी पत्थर ईंट आदि फेंकने लग जाय तो उसका कल्याणक प्रायश्चित्त है। तथा बिल मूंदनेका

प्रायश्चित्त भी कल्याणक है अथवा रात्रिके समय स्थानमें सर्प, चूहे आदिके त्राससे बिलका पत्थर आदिसे मूंद कर सो गये और प्रातःकाल उसे उघाड़ कर चले गये तो प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ९० ॥

पुरुमदों यतोऽयत्नाद्विडालादिप्रवेशने ।
क्षमणं लघुमासोऽथ स्तेनस्य नृपसूदने ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो असावधानीसे निवासस्थानका दरवाजा खुला जाय उसे पुरुमंडल प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि बिल्ली नौला सांप आदि घुस जांय तो उपवास प्रायश्चित्त चोर घुस जाय और राजाका मरण हो जाय तो लघुमास प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ९१ ॥

मार्यमाणान् विलोक्याश्नंश्चौरादीनेति पंचकं ।
भिन्नमासमथो निन्दां पंचकं म्रियमाणकान् ॥

अर्थ—यदि कोई व्याधिसे ग्रसित साधु दूसरों कर मारे हुए चोरोंको देखकर आहार ग्रहण कर ले तो वह पंचक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है और यदि व्याधिग्रसित नहीं नीरोग है तो भिन्न मास प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। तथा मरे हुए चोरोंको देखकर बीमारीवश आहार ग्रहण करे तो आत्म निंदाको प्राप्त होता है अर्थात् अपने आप अपनी निंदा करना कि हाय मैंने बुरा किया इत्यादि यही इस दोषकी शुद्धि प्रायश्चित्त है और यदि बीमार न होकर मरे हुए चोरोंको देख

कर आहार ग्रहण करे तो एककल्याणक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ ९२ ॥

शब्दाद्भयानकाद्रूपादुत्त्रस्येदंगमाक्षिपेत् ।
मिथ्याकारः स्वनिंदा वा पंचकं वा पलायने ॥९३॥

अर्थ—भयानक शब्द सुनकर या आकृति देखकर कंपने लग जाय और शरीर गिर पड़े तो उसका क्रमसे मिथ्याकार और आत्मनिंदा प्रायश्चित्त है। तथा डरके मारे भग जाय तो कल्याणक है। भावार्थ—भयानक शब्द सुनकर और आकृति देख कर शरीर कपकपाने लग जाय तो 'मिथ्या मे दुष्कृतं' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो यह मिथ्याकार वचन उस दोषकी शुद्धिका प्रायश्चित्त है। और यदि उक्त कारणोंवश शरीर गिर पड़े तो उसकी शुद्धिका उपाय अपनी निंदा कर लेना है। तथा उक्त कारणोंको पाकर भग जाय तो उसका एक कल्याणक प्रायश्चित्त है। यहां पर दोनों वा शब्द विकल्पार्थक हैं जो कचित् अवस्थाविशेषमें व्यभिचारका सूचन करते हैं अर्थात् व्याधि आदिके वश उक्त दोष लग जाय तो प्रायश्चित्त नहीं भी है ॥९३॥

कराद्याकुंचने स्पर्धादायामे पुरुमंडलं ।
उत्क्षेपे पंचकं मासः पाषाणस्य लघोर्गुरोः ॥९४॥

अर्थ—स्पर्धावश हाथ पर आदिका सिकोड़ लेने और पसार देनेका प्रायश्चित्त पुरुमंडल है। तथा छोटे पत्थर फेंकने-

का एक कल्याणक और बड़े पत्थर फेंकनेका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ९४ ॥

प्रधावयति धावेद्वा वर्षाद्भन्द्वैरभित्रसन् ।
[illegible]

अर्थ—जो वर्षासे अथवा अग्निसे डर कर औरोंको भगाता है अथवा स्वयं भगता है वह यदि व्याधियुक्त है तो आचाम्ल प्रायश्चित्तको और व्याधिरहित है तो कल्याणक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। तथा शीघ्रता दिखानेवालेके लिए पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ९५ ॥

पिपीलिकादिभीमांसाधारणे स्यात्प्रतिक्रमः ।
चिरं क्रीडयतो देयं कल्याणं मलशोधनं ॥९६

अर्थ—चींटी, जूं, खटमल, डांस, सर्प, मनुष्य आदि मंत्र तंत्र आदि शक्ति द्वारा चाल रोक देनेका प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण है। तथा बहुत काल तक क्रीडा करते हुएको कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ९६ ॥

विद्यामीमांसने योगप्रयोगे प्रासुकैः कृते ।
शुद्धयेदवग्रमेयुक्तैर्लघुमासं समश्नुते ॥ ९७ ॥

अर्थ—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खल आदि विद्याएं सिद्ध हुई या नहीं इस विषयकी परीक्षा करनेके लिए गंध, अक्षत, पुष्प, धूप आदि प्रासुक पूजा द्रव्यों द्वारा औषधिप्रयोग करनेका

कोई प्रायश्चित्त नहीं है और यदि अप्रासुक द्रव्यों द्वारा औषधि-प्रयोग करे तो उसका लघुमास प्रायश्चित्त है ॥ ९७ ॥

युंजानः संयते शुद्धो दिदृक्षुर्वीर्यमौषधेः।
गृहस्थे मासमाप्नोति चार्यायां पंचकं न वा ॥९८॥

अर्थ—औषधिका सामर्थ्य देखनेके लिए यदि साधुमें उसका प्रयोग करे तो शुद्ध है—कोई प्रायश्चित्त नहीं। गृहस्थमें यदि प्रयोग करे तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्तका भागी होता है। तथा आर्यिकामें प्रयोग करे तो कल्याणकको प्राप्त होता है। अथवा धर्म-पुष्पा अर्थात् पुष्पवती आर्यिकामें प्रयोग करे तो प्रायश्चित्तको नहीं भी प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

जिज्ञासुर्भेषजं वीर्यं सर्पादीनां प्रदर्शयेत्।
मिथ्याकारो विपन्ने स्युश्चतुर्मासा गुरुकृताः ॥

अर्थ—औषधिकी शक्ति जाननेका इच्छुक यदि सर्प, गोनस, चूहे आदिमें उस औषधिका प्रयोग करे तो मिथ्याकार प्रायश्चित्त है और यदि वे सर्पादि इस औषधिप्रयोगसे मर जांय तो उसका प्रायश्चित्त निरन्तर चार मास है अथवा निरन्तर चार पंचकल्याणक है। व्यवधानरहित एक दिनके अन्तरसे चार मास तक उपवास करना चतुर्मास है ॥ ९९ ॥

साभोगे पादमशुद्धा उद्धर्तादावभोजनं।
पंचकं न यथासंख्यं शृंगारे मासिकं विदुः ॥१००॥

अर्थ—सीजन अथवा मिथ्यादृष्टियोंके देखते हुए यदि पैर

प्रक्षालन करे तो उपवास और उससे, तिससे भाजिम भादि करे तो कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए। यहांपर 'च' शब्द कही हुई बातका समुच्चय करता है, इससे यह समझना कि भाग बीमार हो तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथा शृङ्गार करे प्रायश्चित्त आचार्यगण पंचकल्याणक बताते हैं ॥ १०० ॥

सर्वभूरिषु भांडेषु मध्यमेष्वमध्यमेषु च ।
षष्ठं चतुर्थमेवैकस्थितिः सौवीरभोजनं ॥१०१॥

अर्थ—वैयावृत्य करनेके लिए जितने भर पात्र लाये उन सबके प्रक्षालन करनेका प्रायश्चित्त एक षष्ठ है। उनमें थोडे पात्रोंके प्रक्षालनका उपवास प्रायश्चित्त है। उससे भी थोडे अर्थात् मध्य दर्जेके पात्रोंके प्रक्षालनका एकस्थान प्रायश्चित्त है और सबसे थोडे पात्रोंके प्रक्षालनका प्रायश्चित्त आचाम्ल है ॥ १०१ ॥

शुद्धेष्वपि च संशुद्धौ कात्स्न्येनाथ पृथक्पृथक्।
शोभायै मासिकं चैवमापन्नेष्वप्यशुद्धेषु ॥१०२॥

अर्थ—शुद्ध होते हुए भी वर्तनोंको एक या जुदे जुदे शोभाके लिये प्रक्षालन करनेका पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए और प्रक्षालन करने योग्य अशुद्ध वर्तनोंको प्रक्षालन करनेका भी पंचकल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए। भावार्थ— निमित्त जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि इसके प्रति

रिक्त यह भी प्रायश्चित्त संभव है कि मद्यपान करनेयोग्य पात्रोंके मद्यपान करनेका उपवास और इसमें भी यदि अधिक मात्रकी अपेक्षा हो तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ १०२ ॥

अन्नपानविलिप्तं वा यावत्तावद्विशोधयन् ।
विशुद्धः कृत्स्नसंशुद्धौ मासिकं समुदाहृतं ।१०३।

अर्थ—अथवा जितने बर्तनों पर दाल भात आदि अन्न-पान लिपटा हुआ है उतने बर्तनोंको मद्यपान करनेवाला विशुद्ध है प्रायश्चित्तका भागी नहीं है। और जिनपर अन्न पान लिपटा हुआ है और नहीं भी लिपटा हुआ है उन सबके मद्यपान करनेका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त कहा गया है। अथवा यह प्रायश्चित्त वैयावृत्यके निमित्त पात्रोंको धोने और अपने वस्त्र, भिक्षाके पात्र आदि उपकरणोंके धोनेमें आर्यिकाके लिए समझना चाहिए ॥ १०३ ॥

वृषादिवारणे शुद्धः स्याद्वर्षासु तु पंचकं ।
सागारवमनौ स्तेनप्रवेशे जोपमास्थितः ॥१०४॥
वीक्ष्यमाणहतौ मासः कल्याणमहृतावृतोः ।
वमनावनले स्तेनप्रविष्टे शब्दकृच्छुचिः ॥१०५॥

अर्थ—बैल, घोड़े, गधे आदिका रोक देने भीतर न आने देनेका प्रायश्चित्त कुछ नहीं है। वर्षाकालमें रोक देनेका कल्या-

णक प्रायश्चित्त है। किसी गृहस्थके चैत्यालयमें सोते चौर घुस आवे, आप चुपचाप बैठा रहे, उसके देखते देखते वो चोरीकर माल ले जाय तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है। चुराकर न ले जाय तो कल्याणक प्रायश्चित्त है। तथा दो से ऊपर वहीं ठहरा रहे—अर्थात् वर्षाकाल बीत जाने गृहस्थके मकान पर निवास कर रहा हो उस समय अग्नि लग जाय या चौर घुस आवे तो 'मकानमें आग लग गई चौर घुस आये' इस प्रकार शब्द करे तो शुचि-निर्दोष है-उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं ॥ १०४-१०५ ॥

पश्चात्कर्मभयात् सम्यग्भग्नमुत्पतितं स्वयं।
संस्कुर्वन् प्रासुकैः शुद्धो वर्षाभ्यः पंचकं व्रजेत्॥

अर्थ—यह अवश्य करना चाहिए इसको पश्चात्कर्म कहते हैं। इस पश्चात्कर्मके भयसे गिर पड़नेसे उत्पन्न हुए घावको स्वयं प्रासुकद्रव्योंसे संस्कार (इलाज) करनेवाला शुद्ध है-प्रायश्चित्तका भागी नहीं है। तथा वर्षाकालके अनन्तर संस्कार करनेवाला कल्याणक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १०६ ॥

सम्यग्दृष्टिरिति स्नेहं वात्सल्याद्विदधच्छुचिः।
शय्यागारादिकस्यापि वैयावृत्त्ये विजन्तुकेः॥

अर्थ—"यह सम्यग्दृष्टि है" इस कारण वात्सल्यधर्मके अनुरागवश उस पर स्नेह करनेवाला साधु पवित्र है, प्रायश्चित्तका

अधिकारी नहीं है। तथा गृहपति, आदि शब्दसे दानपतिका प्रासुकद्रव्यसे वैयावृत्य करनेवाला भी निर्दोष है—अतः प्रायश्चित्तका भागी नहीं है। शून्यागार शब्दका अर्थ गृहपति है। गृहपति शब्दसे वह गृहपति समझना चाहिए जिसके कि मकानमें ठहरे हुए हैं॥ १०७॥

अन्यतीर्थिगृहस्थेषु श्रावकज्ञातिकादिषु।
वैयावृत्ये कृते शुद्धो यदि संयमसन्मुखः॥१०८॥

अर्थ—कापालिक आदि गृहस्थोंका, सम्यग्दृष्टि श्रावकोंका, अपने स्वजनोंका, आदि शब्दसे चोरोंका भी वैयावृत्य करने पर यदि वह वैयावृत्य करनेवाला संयम पालनेमें तत्पर है तो शुद्ध है—प्रायश्चित्तका भागी नहीं है॥ १०८॥

अभ्युत्थास्यत्ययं हीति ज्ञात्वा पार्श्वस्थकादिकैः।
समाचरन् शुचिः स्तोकं सर्वसंभोगभागपि॥

अर्थ—यह आसनसे उठकर खड़ा होगा ऐसा समझ कर पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, मृगचारी और संसक्त इन पांचोंके साथ उचित व्यवहार या समान आचरण करनेवाला साधु पवित्र है, निर्दोष है—प्रायश्चित्तका भागी नहीं है तथा स्वल्पकाल पर्यंत विनय वंदना स्वाध्याय आदि करता हुआ भी पवित्र है। अनन्तर यदि वे पार्श्वस्थादि अभ्युत्थान अर्थात् उठ कर खड़े न हों तो सर्वसंभोग विनयवंदना स्वाध्याय आदि न करे

शुद्धोऽभिवंदमानोऽपि पार्श्वस्थगणिनं गणी।
शेषानपि च शेषाश्च संघे श्रुतपथ मासिकं ॥११०॥

अर्थ—सदाचारी आचार्य पार्श्वस्थ आचार्यको नमस्कार करता हुआ भी शुद्ध-निर्दोष है और आचार्यको छोड़कर अन्य मुनि भी पार्श्वस्थ मुनियोंको वंदना करते हुए पवित्र हैं। अथवा भारी जनसमुदायके जुड़ने पर शास्त्र ग्रहण करे या शास्त्र-श्रवण को छोड़कर यदि सब मुनि पार्श्वस्थ मुनिको नमस्कार करें तो उस सन्मुनिको मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ ११०॥

स्नेहमुत्पादयन् कुर्यात् सुवाग्भिर्धर्मभाषणं ।
राजरक्षिकतत्प्राये संशुद्धो गणरक्षणात् ॥ १११॥

अर्थ—संघकी रक्षाके निमित्त, स्नेह उत्पन्न कराते हुए राजा, कोट्टपाल, तत्प्राय शब्दसे तत्सदृश सेनापति, पुरोहित, मंत्री आदिको नर्म-सुमधुर भाषणों द्वारा यदि धर्मोपदेश दे तो निर्दोष है॥ १११॥

अभ्युत्थानेऽभिगत्यादौ सागारेष्वन्यलिंगिषु।
दीक्षादिकारणाच्छुद्धो गौरवान्मासमृच्छति॥

अर्थ—आसनसे उठ कर खड़ा होना, सामने आना, बैठने को आसन देना, सन्मान करना, अपना मुख प्रफुल्लित बनाना, मुखकी मुसकराहट द्वारा अपना आन्तरंगिक भाव व्यक्त करना, मधुर वचन बोलना इत्यादि उपचार विनय

विभूति है" इस प्रकार मनमें गर्व के धारण कर भाष्य, हो तो उसे पंचकल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ११४ ॥

रससातमदे वृष्यरसस्पर्शार्थसेवने ।
च्युतेऽनात्मवशस्यापि पंचकल्याणमुच्यते ॥११५॥

अर्थ—मुझे ऐसे ऐसे बढ़िया घी, शक्कर, दूध आदि रस प्राप्त होते हैं, मुझे इस प्रकारका उत्तम सुख है इस प्रकार रसों और सुखके विषयमें गर्व करनेका तथा इन्द्रियरूप हाथीको मदोन्मत्त करनेवाले पौष्टिक रसों और स्पर्शन इन्द्रियके लिए कठोर, नर्म, भारी, लघु आदि पदार्थोंके सेवन करनेका तथा कामकी परवशताके कारण वीर्यपात हो जानेका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ११५ ॥

उपसर्गे सगंधादेर्वस्त्रतांबूललेपने ।
प्रत्याख्यानस्य भुक्तौ च गुरुमासोऽथ पंचकं ॥

अर्थ—सगंध नाम स्वजनोंका है । आदि शब्दसे राजा, शत्रु प्रभृतिका ग्रहण है । इनके उपसर्गवश वस्त्र पहनने पड़ें, ताम्बूल भक्षण करना पड़े, चंदन, केशर, कपूर आदिका शरीरमें लेपन करना पड़े तथा त्याग की हुई भिक्षाका भोजन करना पड़े तो पंचकल्याणक और कल्याणक प्रायश्चित्त है। भावार्थ—राजा, शत्रु, स्वजन आदिके उपसर्गवश ताम्बूल भक्षण करने विलेपन करने आदिका कल्याणक प्रायश्चित्त है और वस्त्र

परिधारण करने आदिका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥११६॥

मैथुने रात्रिभुक्तौ च स्वस्थानं परिकीर्तितं ।
स्त्रियोः संधौ प्रसुप्तस्य मनोरोधान्न दूषणं ॥११७॥

अर्थ—उपसर्गवश मैथुन सेवन करने और रात्रिमें भोजन करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक कहा गया है। यह प्रायश्चित्त उसके परिणामोंकी जातिका विचार कर देना चाहिए। तथा दो स्त्रियोंके बीचमें सोये हुए साधुके लिए मनको रोकनेके कारण कोई दूषण नहीं है। भावार्थ—ऐसा माका आशय कि दोनों तरफसे दो स्त्रियां सोई हुई हैं और बीचमें आप सोया हुआ हो, पर मनमें कोई तरहका विकार भाव उत्पन्न नहीं हुआ हो तो उस साधुके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥११७॥

आवश्यकमकुर्वाणः स्वाध्यायान् लघुमासिकं ।
एकैकं चाप्रलेखायां कल्याणं दंडमश्नुते ॥११८॥

अर्थ—जो साधु सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओंको और दो स्वाध्याय दिनके और दो रातके एवं चार तरहके स्वाध्यायोंको न करे तो वह लघुमास प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है तथा इन छह आवश्यक क्रियाओंमेंसे एक एकको न करे और संस्तर उपकरण आदिका प्रतिलेखन न करे तो कल्याणक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ११८ ॥

वंदनायास्तनूत्सर्गेऽप्येकादौ विस्मृते त्रिषु ।
पुरुमंडलमाचाम्लं क्षमणं च यथाक्रमं ॥ ११९ ॥

अर्थ—वंदना और कायोत्सर्गके एक वार, दोवार और तीन वार भूल जानेका क्रमसे पुरुमंडल, आचाम्ल और उपवास प्राय श्चित्त है। भावार्थ—एक वार भूलनेका पुरुमंडल, दो वा भूलनेका आचाम्ल और तीन वार भूलनेका उपवास प्रायश्चि है ॥ ११९ ॥

एकादिके गुरोरादौ कायोत्सर्गस्य पारणे ।
पुरुमंडलमाचाम्लं क्षमणं च यथाक्रमं ॥ १२०

अर्थ—यदि एक वार या दो वार या तीन वार आचार्य पहले कायोत्सर्ग समाप्त करे तो उसका क्रमसे पुरुमंड आचाम्ल और क्षमण प्रायश्चित्त है ॥ १२० ॥

कारणाद्वा गुरोः पश्चात् कायोत्सर्गं समापयेत्
सकृद्द्विस्त्रिः पुरुमर्दोऽप्याचाम्लं चैकसंस्थितिः ॥

अर्थ—यदि किसी कारणवश एक वार, दो वार या तीन वार आचार्यके पश्चात् कायोत्सर्ग समाप्त करे तो उसका क्रमसे पुरुमंडल आचाम्ल और एकस्थान प्रायश्चित्त है ॥ १२१ ॥

आसेधिकां निषद्यां वा न कुर्यात्त्र्यादिके निशि ।
अनाहारोऽम्लभुक्तिश्च पुरुमंडलमेव च ॥१२२॥

अर्थ—रात्रिके समय तीन वार, दो वार या एक वार आसे-

धिका और निषेधिका न करे तो उसका क्रमसे उपवास, आचाम्ल और पुरुमंडल प्रायश्चित्त है। भावार्थ—कंदरा पर्वतकी गुफा, गव्हर, मठ, चैत्यालय आदिसे निकलते समय वहां रहनेवाले नाग यक्ष आदिको 'असहि असहि असहि' इन वचनों द्वारा पुछ कर निकलना आसेधिका क्रिया है। तथा प्रवेश करते समय 'निसहि निसहि निसहि' इन वचनोंद्वारा पूछना निषेधिका क्रिया है। इन क्रियाओंको रात्रिके समय उक्त स्थानोंमें प्रवेश करते समय और निकलते समय तीन बार न करे तो उपवास, दो बार न करे तो आचाम्ल और एक बार न करे तो पुरुमंडल प्रायश्चित्तका भागी होता है॥ १२२॥

आसेधिकां निषद्यां च मिथ्याकारं निमंत्रणं।
इच्छाकारं न यः कुर्यात्तद्दंडः पुरुमंडलं ॥१२३॥

अर्थ—जो साधु आसेधिका, निषेधिका, मिथ्याकार, निमंत्रण और इच्छाकार न करे तो उसका (न करनेका) पुरुमंडल प्रायश्चित्त है। आसेधिका और निषेधिकाका स्वरूप ऊपर कह चुके हैं। अपराध बन जाने पर 'मेरा अपराध मिथ्या हो' इसे मिथ्याकार कहते हैं। साधर्मी वर्गसे पुस्तक कमंडलु आदि उपकरणोंका विनयपूर्वक मांगना निमंत्रण है। तथा आचार्य और उनके उपदेशादिकोंमें अनुरागता रखना इच्छाकार है॥ १२३॥

उत्कृष्टं मध्यमं हीनमदत्तं गृह्णाति यः ।
उपधिं लघुमासोऽस्य पंचकं गुरुमंडलं ॥ १२४ ॥

अर्थ—जो यति बिना दिये हुए पुस्तक आदि उत्कृष्ट, पिच्छिका आदि मध्यम उपकरण और कमंडलु उपकरण ग्रहण करता है उसके लिए क्रमसे लघुमास, पंचक और गुरुमंडल प्रायश्चित्त है। भावार्थ उत्कृष्टका लघुमास, मध्यमका कल्याणक और जघन्यका गुरुमंडल प्रायश्चित्त है ॥

संज्ञाविहारभिक्षासु पुरुमंडलमीरितं ।
क्रोशादिग्रामगतावप्यनापृच्छय गुरुं गते ॥१२५॥

अर्थ—आचार्यको पूछे बिना संज्ञा—मलत्याग के दूसरी वसतीको जाने, भिक्षाके लिए जाने, तथा एक दो कोश, तीन कोश आदि दूरवर्ती अन्य ग्रामको जानेका प्रायश्चित्त पुरुमंडल कहा गया है ॥ १२५ ॥

साधारणाशनासेवे स्थापनावसप्रवेशने ।
ज्ञात्वा संज्ञिकुलादीनि पूर्ववर्णिनि पंचकं ॥१२६॥

अर्थ—अपरिचित आहार ग्रहण करनेका, चार या पांच आदमी जिसमें निवास करते हों ऐसे मकानमें प्रवेश करनेका और श्रावकोंके घर आदि समझकर पहले प्रवेश करनेका पंचक-कल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ १२६ ॥

अन्यदत्तोपधेः स्थानमन्यो गत्वा तमाददत् ।
मासिकं लभते मूलं रूपव्यत्ययकारिणः ॥१२७॥

अर्थ— अन्यके लिए दिये हुये उपकरणके स्थान पर जाकर यदि उस उपकरणको दूसरा दीक्षित मुनि ग्रहण करे तो वह पंचकल्याणक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है तथा लिंगको विपरीत करनेवाले-वेष बदलनेवाले यतिको मध्य दिनसे ले कर मूल अर्थात् पुनर्दीक्षा नामका प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ १२७॥

अतिबालमलंवृद्धं दीक्षयन् मासमश्नुते।
वसतिं च व्यवच्छिदन् छेदे मूले गणी तपः॥

अर्थ—अतिबालको और अतिवृद्धको दीक्षा देनेवाला तथा वसति-दी हुई शय्यामें विघ्न डालनेवाला आचार्य पंचकल्याणक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। तथा छेद और मूल इन दो प्रायश्चित्तोंके प्राप्त होनेपर वह आचार्य उपवासादि तप प्रायश्चित्तको ही प्राप्त होता है ॥ १२८॥

एवमादि तपो देयं शेषं चापि यथोचितं।
प्रतिसेवासु सर्वासु सम्यगालोच्य सूरिणा।१२९।

- स प्रकार तप प्रायश्चित्त देना चाहिये तथा सर्व-प्रकारकी प्रतिसेवाओं—दोषाचरणोंके होने पर उनका अच्छी तरह विचार कर आचार्य यथोचित शेष प्रायश्चित्त भी देवे ॥

इति प्रतिसेवाधिकारः द्वितीयः ॥ २ ॥

१—एवं भावाप्रयुक्तेषु मासिकं समुदाहृतं ।
छेदे मूले च संप्राप्ते तप एव गणेशिनः ॥
यह श्लोक मूल प्रतिमें है।

३–कालाधिकार।

अब कालका वर्णन करते हैं,—

शीतः साधारणो धर्मस्त्रेधा कालः प्रकीर्तितः।
उत्कृष्टं मध्यमं नीचं तत्र भाज्यं तपो भवेत्।१३०।

अर्थ—काल तीन प्रकारका कहा गया है। शीतकाल, वर्षाकाल और ग्रीष्मकाल। इन तीनों कालोंमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य उपवासादि तप देना चाहिये॥ १३०॥

कौनसे कालमें कौनसा उत्कृष्ट तप देना चाहिये यह बताते हैं—

वर्षासु द्वादशं देयं दशमं च हिमागम।
अष्टमं ग्रीष्मकाले स्यादेतदुत्कर्षतस्तपः। १३१।

अर्थ—वर्षाकालमें द्वादश–पांच उपवास, शीतकालमें दशम–चार उपवास और ग्रीष्मकालमें अष्टम–तीन उपवास व्यवधान-रहित देने चाहिये। यह उत्कृष्ट तप है॥ १३१॥

आगे मध्यम तप कितना देना चाहिए यह बताते हैं—

वर्षासु दशमं देयं अष्टमं हिमागमे।
षष्ठं स्याद् ग्रीष्मकालेऽपि तप एतद्धि मध्यमं॥

अर्थ—वर्षाकालमें दशम–चार उपवास, शीतकालमें अष्टम-

तीन उपवास और ग्रीष्मकालमें षष्ठ—दो उपवास निरंतर देने चाहिए। यह तीनों कालोंमें देनेयोग्य मध्यम तप है ॥ १३२ ॥

अब जघन्य तप कितना देना चाहिये यह बताया जाता है—

वर्षाकालेऽष्टमं देयं षष्ठमेव हिमागमे।
चतुर्थं ग्रीष्मकाले स्यात्तप एव जघन्यकं ।१३३।

अर्थ—वर्षाकालमें अष्टम—तीन उपवास, शीतकालमें षष्ठ—दो उपवास और ग्रीष्मकालमें चतुर्थ—एक उपवास व्यवधानरहित देने चाहिए। यह तीनों कालोंमें देने योग्य जघन्य तप है ॥

आगे दूसरी तरह कालका और तपका विभाग करते हैं—

अथवा द्विविधः कालो गुरुर्लघुरिति क्रमात्।
शरद्वसन्ततापाः स्युर्गुरवो लघवः परे ॥ १३४ ॥

अर्थ—अथवा गुरुकाल और लघुकाल इस क्रमसे काल दो प्रकारका है। शरद, वसंत और ग्रीष्म ये तीन गुरुकाल हैं। अवशिष्ट वर्षा शिशिर और हेमन्त ये तीन लघुकाल हैं। भावार्थ—एक वर्षमें छह ऋतुएं होती हैं और बारह महीनेका एक वर्ष होता है तथा दो दो महीनेकी एक एक ऋतु होती है उनके नाम शरद, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर और हेमन्त हैं। आसोज और कार्तिक ये दो महीने शरद ऋतुके, चैत्र और वैशाख ये दो वसंत ऋतुके, ज्येष्ठ और आषाढ ये दो ग्रीष्म ऋतुके, श्रावण और भाद्रपद ये दो वर्षाऋतुके, मगसिर और पूष ये दो हेमन्त

ऋतुके तथा माघ और फाल्गुन ये दो शिशिर ऋतुके हैं। उक्त छह ऋतुओंमें पहलेकी तीन ऋतुएं तो गुरुकाल हैं और आगेकी तीन ऋतुएं लघुकाल हैं ॥ १३४ ॥

लघुद्वंद्वो गुरुद्वंद्वो गुरुकालस्तपो गुरुः। गुरुरन्यतरः पंच भंगाः कालतपोद्भयात् ॥१३५॥

अर्थ—लघुद्वंद्व—काललघु और तप भी लघु, गुरुद्वंद्व—काल गुरु और तप भी गुरु, गुरुकाल—कालगुरु, तपो गुरु—गुरु तप और अन्यतर गुरु—दोनोंमेंसे एक गुरु इस तरह काल और तप दोनोंके पांच भंग होते हैं। भावार्थ—काल और तप दोनोंको लेकर भंग निकालना चाहिये। लघुकी संदृष्टि १ है और गुरुकी २ है। लघु काल और लघु तप इन दोनोंको एक अंकके आकारमें ऊपर स्थापन करना चाहिये तथा गुरु काल और गुरु तप इन दोनोंको दो अंकके आकारमें नीचे स्थापन करना चाहिये। इनकी इस तरह ; ; संदृष्टि स्थापन कर भंग लाना चाहिये। शिशिर, वर्षा और हेमन्त ये तीन काल लघु हैं इनमें तप भी लघु कहा गया है एवं लघु काल और लघु तप नापका पहला ; भंग होता है। काल गुरु और तप लघु, तप गुरु और काल लघु एवं काल और तपमेंसे एक गुरु लघुका दूसरा : : भंग होता है। काल गुरु और तप लघु अथवा गुरु या तीसरा ! भंग होता है। तप गुरु और काल गुरु अथवा लघु या

चौथा ३ भंग होता है। तथा काल गुरु और तप भी गुरु यह पांचवां ३ भंग होता है। इनकी पूर्ण प्रस्तार संदृष्टि—

१, २-१, २, ३, २,
१, १-२, ३, २, २, यह है ॥ १३५ ॥

इति श्रीनंदिगुरुविरचिते प्रायश्चित्तसमुच्चये
कालाधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥

४-क्षेत्राधिकार ।

अब क्षेत्र अधिकारका कथन करते हैं —

क्षेत्रं नानाविधं ज्ञेयं गणेन्द्रेणाटता भुवं ।
अथवा दशधा क्षेत्रं विज्ञेयं हि समासतः ॥१३६॥

अर्थ—पृथ्वीतल पर विहार करनेवाले आचार्यको क्षेत्रके अनेक भेद जानने चाहिये। अथवा संक्षेपसे क्षेत्र दश प्रकारका समझना चाहिये। भावार्थ—क्षेत्र नाम देशका है। कोई देश प्रासुक-जीवोंके अधिक सचारसे रहित होते हैं, कोई अप्रासुक-जीवोंके अधिक संचारसे पूर्ण होते हैं। कहीं सरपी होते हैं, कहीं नहीं होते। कहीं भिक्षा मिलना सुलभ होता है, कहीं दुर्लभ होता है। कहींके लोग भद्रपरिणामी होते हैं, कहींके रौद्रपरि-णामी होते हैं इत्यादि देशके अनेक भेद हैं अथवा संक्षेपसे देशके दश भेद हैं ॥ १३६ ॥

आगे दश प्रकारके क्षेत्रके नाम बताते हैं—

अनूपं जांगलं क्षेत्रं भक्तकल्मापशक्तुयुक्।
रसधान्यपुलाकं च यवागूकंदमूलदं ॥ १३७॥

अर्थ—अनूप, जांगल, भक्तयुक्, कल्मापयुक्, शक्तुयुक्, रसपुलाक, धान्यपुलाक, यवागू, कंद और मूल ऐसे क्षेत्रके दश भेद हैं। जहां पर पानी अधिक हो वह अनूप देश है जैसे—मगधमलय, वानवास, कोंकण, सिंधु आदि। जहां दो इंद्रिय आदि त्रस जीवोंकी उत्पत्ति तो अधिक हो पर पानी कम हो वह जांगल देश है। जहां तुष धान्य मधुरतासे पैदा होता हो, इसीसाह ओदन (भात) खाया जाता हो वह भक्त-क्षेत्र है। जहां पर कुलथ, मूंग, उड़द आदि कोशधान्य (फलीमें उत्पन्न होनेवाले धान्य) अधिक उत्पन्न होते हों वह कल्मप क्षेत्र है। जहां जौ खूब पैदा होता हो, सत्तू खूब खाया जाता हो वह शक्तु क्षेत्र है। जहां दूध, दही घी आदि बल बढ़ानेवाले रस अधिक होते हों वह रसपुलाक क्षेत्र है। जहां कदुमांड (   ) जौ, गेहूं, शाली, व्रीही आदि तृणधान्य उत्पन्न होते हों वह धान्यपुलाक क्षेत्र है। जहां यवागू (लपसी) विलेपिका (   ) आदि खूब खाये जाते हों वह यवागू क्षेत्र है। जहां सूरण, रकालु, पिंडालु आदि कंद बहुत होते हों वह कंद-क्षेत्र है और जहां नाना प्रकारके मूल—हल्दी, अदरख आदि उत्पन्न होते हों वह मूल क्षेत्र है ॥ १३७॥

किस क्षेत्रमें कितना प्रायश्चित्त देना चाहिये यह बताते हैं—

शीतलं यद्भवेद्यत्र रससंसृष्टभोजनं ।
तत्रोत्कृष्टं तपो देयमुष्णे रूक्षे तु हीनकं ॥१३८॥

अर्थ—जो क्षेत्र ठंडा हो जहां पर कि दूध, दही आदि रसों-के साथ मधुरतासे भोजन खाया जाता हो ऐसे मगध आदि देशोंमें उत्कृष्ट तप प्रायश्चित्त देना चाहिये। तथा मारवाड़, सिंधु, धानक, पारियात्र, मालव आदि उष्ण क्षेत्रोंमें जहां पर कि रूक्ष आहार अधिक मिलता हो वहां बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ १३८ ॥

इति श्रीनंदिगुरुविरचिते प्रायश्चित्तसमुच्चये
क्षेत्राधिकारश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

५—आहारलाभाधिकार ।

यत्रोत्कृष्टो भवेल्लाभः तत्रोत्कृष्टं तपो भवेत् ।
मध्यमेऽपीपदूनं च रूक्षे क्षमणवर्जितं ॥ १३९ ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें उत्कृष्ट आहारलाभ हो जहां सम्यग्दृष्टी अथवा मिथ्यादृष्टि लोग श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त हों, स्निग्ध, मधुर नाना तरहके अच्छे अच्छे आहार देते हों वहां उत्कृष्ट प्रायश्चित्त देना चाहिये और जहा मध्यम दर्जेका लाभ होता

वहां पूर्वोक्त प्रायश्चित्तसे हीन प्रायश्चित्त देना चाहिये तथा जिन देशोंमें कांजिक, कंगु, कोद्रव आदि रूखा भोजन मिलता हो वहां उपवासके विना आचाम्ल, निर्विकृति, पुरुमंडल, एकभक्त आदि प्रायश्चित्त देने चाहिये ॥ १३६ ॥

इति श्रीनंदिगुरुविरचिते प्रायश्चित्तसमुच्चये
आहारलाभाधिकारः पञ्चमः ॥ ५ ॥

—:o:—

६—पुरुषाधिकार ।

इति सेवां च कालं च क्षेत्रमौपधिलंभनं ।
अनुसृज्य तपो देयं पुमांसं च गणेशिना ॥१४०

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे प्रतिसेवा, काल, क्षेत्र, आहारला तथा पुरुषका विचार कर आचार्य प्रायश्चित्त देवें । भावार्थ–प्र सेवा नाम दोषाचरणका है वह दोषाचरण आगाढ़कारण सकृत्कारी सानुवीची प्रयत्नप्रतिसेवी आदि अनेक प्रकार है। उसपर विचार कर प्रायश्चित्त देना चाहिए । इसी तरह शीत- उष्णकाल और वर्षाकालका भी विचार करना चाहिए । क्षेत्र जो समुद्रके नजदीक हो अथवा और कोई दूसरा जिसमें त्रस-स्थावर जीव अधिक हों, जहां पर निवास से बहुत दोष उत्पन्न होते हों उसका भी विचार करना । आहारके लाभ-अलाभको भी विचारना चाहिए । एवं

देने योग्य होते हुए भी छेद प्रायश्चित्तको नहीं चाहता है और कहता है कि मैं तो बहुत कालका दीक्षित हूं मुझे छेद प्रायश्चित्त क्यों दिया जाता है या मेरी दीक्षा क्यों छेदी जाती है। इस तरह चिरदीक्षित होनेका अभिमान करता है वह दीक्षाभिमानी है ॥ १४२ ॥ तथा—

तपोबली तपोदाने समर्थोऽहमिति स्मयी ।
तस्मात्तद्दोषमोषार्थं विपरीतं तपो भवेत् ॥१४३॥

अर्थ—मैं उपवासादि प्रायश्चित्तके योग्य हूं अन्य प्रायश्चित्तके नहीं, इस तरह जो गर्व करता है वह तपोबली अर्थात् तपोभिमानी है। इसलिए छेद प्रायश्चित्त न चाहने और तप चाहने रूप दोषोंकी शुद्धिके अर्थ विपरीत प्रायश्चित्त देना चाहिए। भावार्थ—छेद प्रायश्चित्त चाहनेवालेको उपवासादि और उपवासादि चाहने वालेको छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ १४३ ॥

मृदुश्छेदे च मूले च दीयमाने प्रहृष्यति ।
वंद्यो हि सर्वथा साधुस्तत्तस्मै दीयते तपः ॥१४४॥

अर्थ—जो छेद और मूल प्रायश्चित्त देने पर भी संतोष धारण करता है वह मृदु पुरुष है। वह कहता है कि साधु सर्वथा वंदना करने योग्य है अगर मैंने साधुओंको पहले नमस्कार किया तो नमस्कार किया यदि बादमें नमस्कार किया तो नमस्कार किया। भावार्थ—छेदादि प्रायश्चित्तके पहले, संघके पश्चाद्दीक्षित साधु

पूर्वदीक्षितको पहले नमस्कार करते हैं और वह पूर्वदीक्षित उन पश्चाद्दीक्षितोंको बादमें नमस्कार करता है। छेद आदि प्रायश्चित्तके देने पर वह पूर्वदीक्षित उन पश्चाद्दीक्षितोंको पहले नमस्कार करता है और पश्चाद्दीक्षित पूर्वदीक्षितको पीछे नमस्कार करते हैं। ऐसी दशामें वह मृदु परिणामी विचार करता है कि पश्चाद्दीक्षित साधुओंने आकर मुझे पहले नमस्कार किया और मैंने बादमें किया ना किया और यदि उनको मैंने पहले नमस्कार किया तो किया इसमें मेरी क्या हानि है? इस तरह जो अपने मृदु परिणामों द्वारा छेद प्राय-श्चित्तसे अनिच्छा प्रकट नहीं करता है उसको उपवासादि प्राय-श्चित्त देना चाहिए। छेद और मूल प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए॥ १४४॥

भाज्यं तपो न कुर्वाणः किं शुद्ध्येच्छेदमूलतः।
गुर्वाज्ञामात्रतोऽश्रद्दधाने देयं तपस्ततः ॥१४५॥

अर्थ—जो बड़े बड़े उपवासादि तपश्चरण नहीं करता है वह गुरुकी आज्ञासे प्राप्त केवल छेद और मूलसे क्या निर्दोष होगा? इस तरह श्रद्धान न करनेवालेको उपवासादि प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ १४५॥

गीतार्थे स्यात्तपः सर्वं स्थापनारहितोऽपरः।
छेदो मूलं परीहारं सामश्रात्पश्चोऽपि न ॥१४६॥

अर्थ—गीतार्थ दो तरहका है। एक सापेक्ष और दूसरा निर-

पेक्ष। उनमेंसे सापेक्ष गुरुके निकट जाकर अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप इन छह प्रायश्चित्तों द्वारा अपनी शुद्धि करता है। छेद, मूल, अनुपस्थापन और पारंचिक ये चार प्रायश्चित्त उसके नहीं होते। निरपेक्ष दश प्रकारके आलोचनादि प्रायश्चित्तोंको गुरु-साक्षी पूर्वक अथवा आत्म-साक्षी पूर्वक करके विशुद्ध होता है। अगीतार्थ, स्थापना प्रायश्चित्तरहित है अर्थात् उसे स्थापना—छेद, मूल, परिहार ये प्रायश्चित्त नहीं देने चाहिए अथवा स्थापना नाम परिहारका है वह उसे नहीं देना चाहिए, अवशिष्ट नव प्रकारका प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा अल्पश्रुतको मास (पंच कल्याणक) प्रायश्चित्त देना चाहिए और परिहार प्रायश्चित्तके योग्य हो जाने पर उसीको छेद और मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ १४६॥

देहवल्यबलो धृत्या धृतिवल्यंगदुर्बलः।
द्वाभ्यामपि बली कश्चित् कश्चिद् द्वितयदुर्बलः॥

अर्थ—कोई साधु देहमें तो बली होते हैं परंतु धैर्यहीन होते हैं, कोई शरीरमें दुर्बल होते हैं परंतु धैर्यवाले होते हैं, कोई देह धैर्य दोनोंमें बलिष्ठ होते हैं और कोई देह और धैर्य दोनों-बलरहित होते हैं॥ १४७॥ इसलिये—

१ यह श्लोक टीका पुस्तकमें लेखकके प्रमादसे छूट गया है।

सर्वं तपो बलोपेते धृत्या हीने धृतिप्रदं ।
देहदुर्बलमाश्रित्य लघु देयं द्विवर्जिते ॥१४८॥

अर्थ—शरीर बलसे परिपूर्ण व्यक्तिको आलोचना आदि दशों प्रायश्चित्त देने चाहिए। धृतिरहितको धैर्य प्रदान करने वाला तप देना चाहिए अर्थात् जिस किसी प्रायश्चित्तके देनेसे उसको धैर्य हो वही प्रायश्चित्त उसे देना चाहिए। शरीरबल रहित पुरुषको जिस प्रायश्चित्तके देनेसे उसका शरीर बल नष्टवस्थ रहे वही प्रायश्चित्त उसे देना चाहिए। तथा धृति-रहित और शरीर बल रहित व्यक्तिको पहलेसे भी लघु प्राय-श्चित्त देना चाहिए ॥१४८॥

अन्त्यसंहननोपेतो बलवानागमान्तगः ।
तस्य देयं तपः सर्वं परिहारेऽपि मूलगः ॥१४९॥

अर्थ—जो अर्धनाराच संहनन, कीलिकसंहनन और असं-प्राप्त सृपाटिकासंहनन इन तीन अन्त्य संहननोंमें से किसी एक संहननसे युक्त है बलवान है और परमागमरूप महा समुद्रका पारगामी है उसको उपवासादि पारंचिक पर्यन्त सभी प्राय-श्चित्त देने चाहिए। तथा वह अन्त्य संहननवाला परिहार प्रायश्चित्तके प्राप्त होने पर भी मूल प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥

आदिसंहननः सर्वगुणो योऽजिननिंदकः ।
देयं सर्वं तपस्तस्य पारंचेऽप्यनुपस्थितिः ॥१५०॥

अर्थ—जो वज्रऋषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराचसंहनन इन आदिके तीन संहननोंमेंसे किसी एक संहननवाला है, सर्वगुणसंपन्न है केवल निद्राविजयी नहीं है उस साधुको सब प्रायश्चित्त देने चाहिए। तथा पारंचिक प्रायश्चित्तके प्राप्त होने पर उसको अनुपस्थान प्रायश्चित्त देना चाहिए पारंचिक नहीं। यह अनुपस्थान प्रायश्चित्त अपने गणमें ही करता है प्रायश्चित्त करलेने पर उसे फिर चिरंतन तपमें स्थापन करना चाहिए ॥ १५० ॥

नवपूर्वधरो श्राद्धो वैराग्यधृतिमानजित् ।
परिणामसमग्रोऽपि योऽनुपस्थानभागसौ ।१५१।

अर्थ—जो यतिपति नवपूर्वका ज्ञाता है, श्रद्धावान् है, संसार शरीर और भोगोंमें रागभाव रहित है, संतोषी है, अकृतकृत्य है अर्थात् शास्त्रार्थका ज्ञाता है किन्तु व्याख्याता नहीं है और विशुद्ध परिणामवाला है वह अनुपस्थान प्रायश्चित्तका भागी है ॥

आप्रश्नालोचने तस्य सदैव गुरुसंनिधौ ।
वंदनादिप्रकुर्वाणः प्रतिवंदनवार्जितः ॥ १५० ॥

अर्थ—उस अनुपस्थान प्रायश्चित्तवालेके, आचार्यके निकट आपृच्छा—अपने कार्यके लिए पूछना और आलोचना ये दो होते हैं। वह अन्य ऋषियोंको वंदना आदि करता है पर वे अन्य ऋषि उसे प्रतिवंदना नहीं करते ॥ १५० ॥

गुणैरेतैः समग्रोऽसौ जघन्योत्कृष्टमध्यमां।
पौराणिकीं गुणश्रेणिं निःशेषामभिपूरयेत्॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त गुणोंसे परिपूर्ण यह अनुपस्थान प्रायश्चित्त वाला जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट चिरंतन गुणोंकी सब संततिको पूर्ण करे॥ १५१॥

श्रद्धाद्या ये गुणाः पूर्वमनुपस्थानवर्णिताः।
पारंचिकेऽपि ते किन्तु कृतकृत्योऽघिसंहतिः॥

अर्थ—श्रद्धा, धृति, वैराग्य, परिणामविशुद्धि आदि गुण जो पहले अनुपस्थापना प्रायश्चित्तमें कहे गये हैं वे सब पारंचिक प्रायश्चित्तमें भी होते हैं किन्तु इतना विशेष है कि यह पारंचिक प्रायश्चित्तवाला कृतकृत्य अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता और व्याख्याता होता है, निद्राविजयी होता है और अनंत बलसंयुक्त होता है॥ १५२॥

सर्वगुणसमग्रस्य देयं पारंचिकं भवेत्।
व्युत्सृष्टस्यापि येनास्याशुद्धभावो न जायते॥

अर्थ—सब गुणोंसे परिपूर्ण पुरुषको पारंचिक प्रायश्चित्त देना चाहिये। जिससे कि संघसे बाहर कर देने पर भी जिसके अशुद्ध भाव न हों॥ १५३॥

पंचदोषोपसृष्टस्य पारंचिकमनूदितं।
व्युत्सृष्टो विहरेदेष सधर्मरहितक्षितौ ॥१५४॥

अर्थ—तीर्थकरासादनादि पांच दोषों कर संयुक्त पुरुषके लिए पारंचिक प्रायश्चित्त कहा गया है। तथा संघमें बाहर किया गया यह पारंचिक प्रायश्चित्तवाला पुरुष जिस देशमें साधर्मी नहीं हैं उस देशमें विहार करे॥ १५४॥

आदिसंहननो धीरो दशपूर्वकृतश्रमः।
जितनिद्रो गुणाधारस्तस्य पारंचिकं विदुः॥१५५

अर्थ—जिसके वज्रऋषभनाराच नामका पहला संहनन है जो धैर्यवान है, दशपूर्वका ज्ञाता और व्याख्याता है, निद्राविजयी है और सम्पूर्ण गुणोंका आधार है उसके पारंचिक प्रायश्चि कहा गया है॥ १५५॥

आर्यायाः स्यात्तपः सर्वं स्थापनापरिवर्जितं।
ममासमपि प्राज्यं न पिंछच्छेदमूलगं॥१५६

अर्थ—आर्यिकाको स्थापनारहित सभी प्रायश्चित्त दिये जा हैं। तथा मासमास प्रायश्चित्त भी आर्यिकाको देवे। यद्यपि वर्ध मान स्वामीके तीर्थमें छह माससे ऊपर उपवासादि प्रायश्चि नहीं है तो भी मासमासमें अधिक प्रायश्चित्त आर्यिकाको देवे तथा पिंछ छेद और मूल ये तीन प्रायश्चित्त उसको नहीं दे चाहिए। भावार्थ—पिंछ नाम परिहार प्रायश्चित्तका है क्योंकि

परिहार मायश्चित्त करनेवाला मैं परिहार मायश्चित्त करनेवाला हूं यह जतानेके लिए आगे पिच्छिका दिखाता है इसलिए परिहार मायश्चित्तको पिच्छ मायश्चित्त कहते हैं। छेद नाम दीक्षा छेदनेका है और मूल नाम पुनः दीक्षा धारण करनेका है ॥१५६॥

प्रियधर्मा बहुज्ञानः कारणावृत्यसेवकः।
ऋजुभावो विपक्षैस्तैर्द्विकैर्द्वात्रिंशदाहताः ॥१५७॥

अर्थ—प्रियधर्म- धर्ममें प्रेम रखने वाला, बहुज्ञान-शास्त्रोंका ज्ञाता, बहुश्रुत, कारणी-व्याधि उपसर्ग आदि कारणोंवश दोषोंका सेवन करनेवाला-सहेतुक, आवृत्यसेवक- एक बार दोष सेवन करनेवाला अर्थात् सकृत्कारी, ऋजुभाव- सरल स्वभावी इन पांचोंको पांच स्थानोंमें एक एक अङ्क आकारमें स्थापना करें। तथा इनके विपक्षी अप्रियधर्म, अबहुश्रुत, अहेतुक, असकृत्कारी और अनृजुभाव इन पांचोंका दो दो अङ्के आकारमें उनके नीचे स्थापन करें। : : : : : इस तरह स्थापन कर परस्पर गुणनेसे ३२ अङ्क हो जाते हैं। यहां पर भी पहलेकी तरह संख्या, प्रस्तार, अक्षसंक्रमण नष्ट और उद्दिष्ट ये पांच प्रकार समझने चाहिए।

अग्रम संख्याविधि बताते हैं।

सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंतित्तिय कमसो गुणिये उप्पज्जये संखा ॥

अर्थात् पहले पहलेके भंग ऊपर ऊपरके एक एक भंगमें पाये

जाते हैं इसलिए क्रमसे गुणा करने पर संख्या निकलती है। सो ही बताते हैं—धर्मप्रिय और अधर्मप्रिय ये ऊपरके बहुश्रुत और अबहुश्रुतमें पाये जाते हैं अतः दोनोंको परस्परमें गुणनेमें चार भंग होजाते हैं। ये चारों ऊपरके सहेतुक और अहेतुकमें पाये जाते है इसलिए चारका दोसे गुणने पर आठ भंग हो जाते है। ये आठ ऊपरके सकृत्कारी और असकृत्कारीमें पाये जाते हैं इसलिए आठको दोसे गुणने पर सोलह भंग हो जाते हैं। तथा ये सोलह ऊपरके ऋजुभाव और अनृजुभावमें पाये जाते हैं इसलिए सोलहको दोसे गुणने पर दोषोंकी बत्तीस संख्या निकल आती है। अब प्रस्तारविधि बताते हैं—

पढमं दोषपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च

पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो॥

अर्थात् पहले दोषके प्रमाणको क्रमसे एक एक विरलन कर और अविरलन किये हुए एक एकके ऊपर ऊपरका एक एक पिंड रख कर जोड़ देने पर प्रस्तार होता है। सो ही कहते हैं। धर्मप्रिय और अधर्मप्रियका प्रमाण दोका विरलन कर क्रमसे लिखे १ १। इनके ऊपर दूसरा बहुश्रुत और अबहुश्रुतका पिंड दो दोको रक्खे २ २। इनको जोड़नेसे चार होते हैं। फिर इन चारोंका विरलन कर चार जगह रक्खे १ १ १ १। इनके ऊपर सहेतुक और अहेतुकका पिंड दो दो रक्खे २ २ २ २। इनको जोड़नेसे आठ होते हैं। फिर इन आठोंका विरलन कर

आठ जगह रक्खे १ १ १ १ १ १ १ १। इनके ऊपर सकृत्कारी और असकृत्कारीका पिंड दो दो रक्खे २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१। इनको जोड़नेसे सोलह होते हैं। पुनः इन सोलहको एक एक विरलन कर रक्खे १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १। इनके ऊपर ऋजुभाव और अनृजुभावका पिंड दो दो रक्खे २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१। इनको जोड़नेसे बत्तीस होते हैं। इस तरह प्रस्तार रूप स्थापन किये बत्तीस भङ्गोंके उच्चारण करनेकी विधि कहते हैं। विपर्यय, बहुश्रुत, सहेतुक सकृत्कारी, ऋजुभाव यह पहली उच्चारणा १ १ १ १ १। अविपर्यय, बहुश्रुत, सहेतुक, सकृत्कारी, ऋजुभाव २ १ १ १ १ यह दूसरी उच्चारणा इसी तरह आगेकी सब उच्चारणा निकाल लेना चाहिए जिनका पूर्ण कोष्ठक आगे दिया गया है। प्रस्तार संदृष्टि इस प्रकार है—

१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२१२

११२२११२२११२२११२२११२२११२२११२२११२२

११११२२२२११११२२२२११११२२२२११११२२२२

११११११११२२२२२२२२११११११११२२२२२२२२

११११११११११११११११२२२२२२२२२२२२२२२२

यहां भेदोंका प्रमाण ३२ है और पंक्ति पांच हैं। "प्रगायाय-प्रमाणेन" इस पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार पहली पंक्तिमें एकान्तरित, दूसरी पंक्तिमें द्व्यन्तरित, तीसरी पंक्तिमें चतुरन्तरित, चौथी पंक्तिमें अष्टान्तरित और पांचवी पंक्तिमें षोडशान्तरित अपु

और गुरु बत्तीस जगह लिखे गये हैं। अब अक्षसंक्रमण विधि बताते हैं—

पढमक्खे अंतगए आदिगए संकमेइ बिदियक्खो।
दोण्णि वि गतूणंतं आइगए संकमेइ तइयक्खो॥

अर्थात् प्रियधर्म और अप्रियधर्म यह प्रथमाक्ष, बहुश्रुत और अबहुश्रुत यह द्वितीयाक्ष, सहेतुक और अहेतुक यह तृतीय अक्ष सकृत्कारी और असकृत्कारी यह चतुर्थ अक्ष तथा ऋजुभाव और अनृजुभाव यह पंचमाक्ष है। इनमेंसे प्रथमाक्ष संचरण करता हुआ अपने अन्तके भेद अप्रियधर्मको प्राप्त होकर और वापिस लौटकर जब पहले प्रियधर्म पर आता है तब द्वितीय अक्ष बहुश्रुतको छोड़कर अबहुश्रुतमें संचरण करता है फिर उस द्वितीयाक्षके उस पर स्थित रहते हुए जब प्रथमाक्ष अंतको पहुंच जाता है। प्रथमाक्ष और द्वितीयाक्ष अंतको पहुंच कर और लौट कर जब आदिको आते हैं तब तृतीयाक्ष सहेतुकको छोड़कर अहेतुकमें संचरण करता है फिर इस अक्षके यहीं स्थित रहते हुए प्रथमाक्ष और द्वितीयाक्ष दोनों संचरण करते हुए अंतको पहुंच जाते हैं तब तीनों अक्ष अन्तको पहुंचकर और लौटकर जब आदि स्थानको आते हैं तब चतुर्थाक्ष सकृत्कारीको छोड़कर असकृत्कारीमें संक्रमण करता है फिर उस अक्षके यहीं स्थित रहते हुए प्रथमाक्ष द्वितीयाक्ष और तृतीयाक्ष तीनों संचरण करते हुए अंतको पहुंच जाते हैं तब चारों अक्ष अन्तको पहुंच कर और

लौटकर जब आदि स्थानको आते हैं तब पंचमात्त ऋजुभावको छोड़कर अनृजुभावमें संचार करता है। सो इस प्रकार है—

१ प्रियधर्म, बहुश्रुत, सहेतुक, सत्कारी, ऋजुभाव १ १ १ १ १
२ अप्रियधर्म, ,, ,, ,, ,, २ १ १ १ १
३ प्रियधर्म अबहुश्रुत ,, ,, ,, १ २ १ १ १
४ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ २ १ १ १
५ प्रियधर्म बहुश्रुत अहेतुक ,, ,, १ १ २ १ १
६ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ १ २ १ १
७ प्रियधर्म अबहुश्रुत ,, ,, ,, १ २ २ १ १
८ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ २ २ १ १
९ प्रियधर्म बहुश्रुत सहेतुक असत्कारी ,, १ १ १ २ १
१० अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ १ १ २ १
११ प्रियधर्म अबहुश्रुत ,, ,, ,, १ २ १ २ १
१२ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ २ १ २ १
१३ प्रियधर्म बहुश्रुत अहेतुक ,, ,, १ १ २ २ १
१४ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ १ २ २ १
१५ प्रियधर्म अबहुश्रुत ,, ,, ,, १ २ २ २ १
१६ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ २ २ २ १
१७ प्रियधर्म बहुश्रुत सहेतुक सत्कारी अनृजुभाव १ १ १ १ २
१८ अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ १ १ १ २
१९ प्रियधर्म अबहुश्रुत ,, ,, ,, १ २ १ १ २
२० अप्रियधर्म ,, ,, ,, ,, २ २ १ १ २

२१	प्रियधर्म	बहुश्रुत	अहेतुक	सकृत्कारी	अनृजुभाव	११२१२
२२	अप्रियधर्म	”	”	”	”	२१२१२
२३	प्रियधर्म	अबहुश्रुत	”	”	”	१२२१२
२४	अप्रियधर्म	”	”	”	”	२२२१
२५	प्रियधर्म	बहुश्रुत	सहेतुक	असकृत्कारी	”	१११२१
२६	अप्रियधर्म	बहुश्रुत	”	”	”	२११२१
२७	प्रियधर्म	अबहुश्रुत	”	”	”	१२१२१
२८	अप्रियधर्म	”	”	”	”	२२१२१
२९	प्रियधर्म	बहुश्रुत	अहेतुक	”	”	११२२१
३०	अप्रियधर्म	”	”	”	”	२१२२१
३१	प्रियधर्म	अबहुश्रुत	”	”	”	१२२२१
३२	अप्रियधर्म	”	”	”	”	२२२२१

अब नष्ट विधि कहते हैं—

सगमाणेहिं विहत्ते सेसं लक्खित्तु संखिवं रूवं।
लक्खिज्जंते सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥

अर्थात् नष्ट दोषकी संख्या रखकर अपने अपने प्रमाणका भाग दे जो संख्या बच रहे उसे अक्षस्थान समझे, लब्धमें एक जोड़कर फिर स्वप्रमाणका भाग दे जो बाकी बच रहे उसको अक्षस्थान समझे अगर बाकी कुछ भी न बचे तो लब्ध संख्या में एक न जोड़े अंत अक्षका अक्ष ग्रहण करे इसतरहका क्रम सब स्थलोंमें करे। अर्थात् किसीने बत्तीस उच्चारणाओंमें

कोई भी उच्चारणा पूछी उसमें दोषोंका कौनसा भेद है यह मालूम न हो तो इस गाथा द्वारा मालूम कर लिया जाता है। जैसे किसीने पूछा—पचीसवीं उच्चारणामें कौनसा भद्र है तब पचीस संख्या २५ स्थापनकर नियधर्म और अनियधर्म २ का भाग दिया बारह लब्ध हुए और एक बाकी बचा। "शेषं भद्रं जानीहि" इसके अनुसार नियधर्म समझना चाहिए क्योंकि नियधर्म और अनियधर्ममें पहला नियधर्म है। बारह जो लब्ध आये हैं उसमें "लब्धे रूपं प्रक्षिप" इसके अनुसार एक मिलाया तेरह हुए इनमें यद्दृश्रुत और अदृश्रुतके प्रमाण दोका भाग दिया छह लब्ध आये और एक बाकी बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार पहला यद्दृश्रुत ग्रहण किया। फिर लब्ध छहमें एक मिलाया सात हुए इनमें सहेतुक और अहेतुकका भाग दिया तीन लब्ध आये और एक बाकी बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार पहला सहेतुक ग्रहण किया। फिर लब्ध तीनमें एक मिलाया चार हुए इनमें सकृत्कारी और असकृत्कारीके प्रमाण दोका भाग दिया दो लब्ध आये बाकी कुछ नहीं बचा "शुद्धे सति अन्त्ये तिष्ठति" इसके अनुसार अंतका असकृत्कारी ग्रहण किया। "शुद्धे सति रूपमेकं न कर्तव्यं" इसके अनुसार लब्ध दोमें एक भी नहीं मिलाया और अनुभाव और अननुभावका प्रमाण दोका भाग दिया लब्ध एक आया बाकी कुछ नहीं बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार अंतका अननुभाव ग्रहण किया। इस तरह पचीसवीं उच्चारणामें नियधर्म, यद्दृश्रु...

सहेतुक, असकृत्कारी और अनुजुभाव नामका अन्त आया।
इस तरह अन्य उच्चारणाओंके अन्त भी निकाल लेने चाहिए।

आगे उदिष्ट विधि कहते हैं—

संठाविऊण रूवं उवरिओ संगुणित्तु सगमाणे।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंतियं चेव ॥

अर्थात् एक रूप रखकर अपने ऊपरके प्रमाणसे गुणा क
और अनंकितको घटावे इस तरह प्रथमपर्यंत करे। भावार्थ-
यहां जो भेद ग्रहण हो उसके आगेकी संख्या अनंकित क
जाती है जैसे प्रियधर्म और अप्रियधर्ममेंसे यदि प्रियधर्म
ग्रहण हो तो उसके आगेवाले अप्रियधर्मको अनंकित समझ
चाहिए। इसी तरह बहुश्रुत और अबहुश्रुत, सहेतुक औ
अहेतुक, सकृत्कारी और असकृत्कारी तथा ऋजुभाव और अ
जुभावमें भी समझना चाहिए। जैसे किसीने पूछा प्रियध
बहुश्रुत, सहेतुक, असकृत्कारी, ऋजुभाव यह कोनसी उच्चारण
है तब प्रथम एकरूप रक्खा उसको ऊपरके ऋजुभाव औ
अनृजुभावका प्रमाण दोसे गुणा किया दो हुए अनंकित अ
नुभावका घटाया एक रहा इसको सकृत्कारी और असकृत्कारी
का प्रमाण दोसे गुणा किया दो हुए, यहां अनंकित कोई नहीं
दो ही रहे इनको सहेतुक और अहेतुकका प्रमाण दोसे गुण
किया चार हुए अनंकित कोई नहीं, चार ही रहे इनको बहुश्रु
और अबहुश्रुतका प्रमाण दोसे गुणा किया आठ हुए अनंकि

सर्वांगजातरोमांचो वैयावृत्यं तपो महत् ।
लाभद्वयं सुमन्वानः श्रेष्ठित्वे पुत्रलाभवत् ॥१६४॥

अर्थ—तथा जिसके सारे शरीरमें रोमांच उत्पन्न हो गये हैं, और जो वैयावृत्य और गुरु तप दोनोंकी प्राप्तिको धनवानके पुत्र लाभकी तरह अच्छा मानता है वह उभयतर है।

भावार्थ—धनवानके धन लाभ तो है ही, पुत्र उत्पत्ति हो जानेमें उसे विशेष हर्ष होता है उसी तरह जो वैयावृत्य और तप दोनोंकी प्राप्तिमें बड़ा हर्षित होता है वह उभयतर है ॥१६४॥

वैयावृत्यं समाधत्स्व तपो वेति गणीरितः ।
तत एकतरं धत्ते स्वेच्छयान्यतरः स्मृतः ॥१६५॥

अर्थ—वैयावृत्य करो अथवा तप करो इस प्रकार आचार्यने कहा। अनन्तर जो पुरुष एकको तो धारण करता है और दूसरेको अपनी इच्छानुसार धारण करता है वह अन्यतर माना गया है ॥ १६५ ॥

वैयावृत्यं न यो वोढुं प्रायश्चित्तमपि क्षमः ।
दुर्बलो धृतिदेहाभ्यामलब्धिर्नोभयः स तु ॥१६६॥

अर्थ—जो पुरुष वैयावृत्य और उपवासादि प्रायश्चित्त धारण करनेमें समर्थ नहीं है और धैर्यबल तथा देहबलसे दुर्बल है और सामर्थ्यरहित है वह अनुभय है। भावार्थ—जो वैयावृत्य और

और दश कुल मिलाकर पचास पुरुष होते हैं। इन पचास पुरुषोंको यथायोग्य प्रायश्चित्त वितरण करना चाहिए ॥ १५९

तेऽथवा पंचधोद्दिष्टा स्थानेष्वेतेष्वनुक्रमात् ।
आत्मोभयतरावन्यतरशक्तश्च नोभयः ॥१६०॥
परतरोऽपि निर्दिष्टस्त एवं पंच पूरुषाः ।
यथान्यायं तथैतेऽपि सप्त भाज्या गणेशिना ॥

अर्थ—ऊपर बताये हुए पचास पुरुष अथवा अन्य स्थानोंमें क्रमसे आत्मसमर्थ, उभयतरसमर्थ, अन्यतर समर्थ, अनुभय और परतर ये पंचप्रकारके पुरुष कहे गये हैं। ये सब आचार्य द्वारा यथायोग्य प्रायश्चित्तसे शुद्ध किये जाने योग्य हैं ॥१६०-१६१॥

प्रायश्चित्तं गुरूद्दिष्टमग्लानः सन् करोति यः ।
वैयावृत्यं न रोचेत स आत्मतर इरितः ॥१६२॥

अर्थ—जो आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको अन्य कारणसे खेदखिन्न न होता हुआ करता है और वैयावृत्य नहीं चाहता है वह आत्मतर कहा गया है ॥ १६२ ॥

प्रायश्चित्तं गुरूद्दिष्टं सुबह्वपि करोति यः ।
वैयावृत्यं च शुद्धात्मा द्वितरोऽसौ प्रकीर्तितः ॥

अर्थ—जो पुरुष गुरु द्वारा दिये गये भारीसे भारी प्रायश्चित्तको करता है और वैयावृत्य भी चाहता है वह शुद्धात्मा उभयतर कहा गया है ॥ १६३ ॥

सर्वांगजातरोमांचो वैयावृत्यं तपो महत् ।
लाभद्वयं सुमन्वानः श्रेष्ठित्वे पुत्रलाभवत् ॥१६४॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके सारे शरीरमें रोमांच उत्पन्न हो गये हैं, और जो वैयावृत्य और गुरु तप दोनोंकी प्राप्तिको धनवानके पुत्र प्राप्तिकी तरह अच्छा मानता है वह उभयतर है।

भावार्थ—धनवानके धन लाभ तो है ही, पुत्र उत्पत्ति हो जानेसे उसे विशेष हर्ष होता है उसी तरह जो वैयावृत्य और तप दोनोंकी प्राप्तिसे बड़ा हर्षित होता है वह उभयतर है ॥१६४॥

वैयावृत्यं समाधत्स्व तपो वेति गणीरितः ।
तत एकतरं धत्ते स्वेच्छयान्यतरः स्मृतः ॥१६५॥

अर्थ—वैयावृत्य करो अथवा तप करो इस प्रकार आचार्यने कहा। अनन्तर जो पुरुष एकको तो धारण करता है और दूसरेको अपनी इच्छानुसार धारण करता है वह अन्यतर माना गया है ॥१६५॥

वैयावृत्यं न यो वोढुं प्रायश्चित्तमपि क्षमः ।
दुर्बलो धृतिदेहाभ्यामलब्धिर्नोभयः स तु ॥१६६॥

अर्थ—जो पुरुष वैयावृत्य और उपवासादि प्रायश्चित्त धारण करनेमें समर्थ नहीं है और धैर्यबल तथा देहबलमें दुर्बल है और लाभवर्जित है वह अनुभय है। भावार्थ—जो वैयावृत्य और

उपवासादि दोनों तरहके प्रायश्चित्तको करनेमें असमर्थ है या असमर्थ है इसलिये उसे आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, पुरुमंडल आदि देना चाहिए ॥ १९६ ॥

दीयमानं तपः श्रुत्वा भयादुद्विजते मुहुः।
प्रोद्वृत्तपांडुरक्षः सन् म्लानिमेति प्रकंपते ॥
वैमनस्यं समाधत्ते रोगमाप्नोति दुर्बलः।
प्राणत्यागं विधत्ते वा श्रामण्याद्वा पलायते ॥१९८
प्रायश्चित्तं न शक्नोति कुर्याच्च व्यावृतिंबहु।
दुर्बलस्तनुधैर्याभ्यां लब्धिमान् परशक्तिकः ॥

अर्थ—जो दिये हुए प्रायश्चित्तको सुनकर भयसे बारबार उद्वेगको प्राप्त हो जाता है, जिसके नेत्र सफेद पड़ जाते हैं अतएव म्लानिमुख हो जाता है जिसका शरीर थर थर कांपने लगता है जो वैमनस्य धारण कर लेता है, व्याधियुक्त हो जाता है अथवा कृश होकर प्राणत्याग करता है, चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है, शरीर और धैर्यसे दुर्बल है, आहार औषध आदिक साधन सशक्त है और उपवासादि प्रायश्चित्त धारण करनेमें समर्थ नहीं है किन्तु मुझे वैयावृत्त्य प्रायश्चित्त देकर अनुगृहीत करो उपवासादि करनेको असमर्थ हूं इस तरह कहता हुआ वैयावृत्त्य स्वीकार करता है वह परशक्तिक पुरुष है ॥१९७-९९॥

द्विप्रकाराः पुमांसोऽथ सापेक्षा निरपेक्षकाः।
निर्व्यपेक्षाः समर्थाः स्युराचार्याद्यास्तथेतरे॥

अर्थ—पुरुष दो तरहके होते हैं एक सापेक्ष, जो आचार्योंके अनुग्रहको आकांक्षा रखते हैं कि आचार्य हम पर अनुग्रह करें। दूसरे निरपेक्ष, जो आचार्योंके अनुग्रहकी आकांक्षा नहीं रखते। इनमें निरपेक्ष जो आचार्य आदि हैं वे पुरुष हैं जो समर्थ—पदशक्तिशाली होते हैं। तथा इनके अलावा दूसरे सापेक्ष होते हैं॥ १७० ॥

गीतार्थाः कृतकृत्याश्च निर्व्यपेक्षा भवन्त्यमी।
आलोचनादिका. तेषामष्टधा शुद्धिरिष्यते ॥१७१

अर्थ—ये निरपेक्ष पुरुष गीतार्थ और कृतकृत्य होते हैं। जो नौ और दश पूर्व धारी हैं उन्हें गीतार्थ कहते हैं और जिन्हों-ने नौपूर्व और दशपूर्वका ग्रन्थ और रूप जानकर अनेक बार उनका व्याख्यान किया है वे कृतकृत्य कहे जाते हैं। अतः उनके लिए आलोचनापूर्वक आठ प्रकारकी शुद्धि कही गई है॥

तेऽप्रमत्ताः सदा संतो दोषं जातं कथंचन।
तत्क्षणादपकुर्वंति नियमेनात्मसाक्षिकं ॥ १७२ ॥

अर्थ—वे निरव्यपेक्ष पुरुष सदाकाल प्रमादरहित होते हैं। यदि किसी कारणवश कोई दोष उत्पन्न हो जाता है—उनसे

कोई अपराध हो जाता है तो वे उसी समय आत्मसाक्षी पूर्वक उस दोषका नियमसे प्रतीकार कर लेते हैं ॥ १७२ ॥

धैर्यसंहननोपेताः स्वातंत्र्याद्योगधारिणः ।
तद्गुर्वपि समुत्पन्नं वहंति निरनुग्रहं ॥ १७३ ॥

अर्थ—परम धैर्य और उत्तमसंहननकर सहित वे परम योगीश्वर स्वाधीन रहनेके कारण भारीसे भारी भी उत्पन्न हुए दोषको औरोंके अनुग्रहकी अपेक्षा किये विना ही स्वयं दूर कर लेते हैं ॥ १७३ ॥

आलोचनोपयुक्ता यच्छुध्यन्त्यालोचनाततः ।
कृत्वाशेषं च मूलान्तं शुध्यन्ति स्वयमेव ते ॥१७४

अर्थ—जो आलोचना—दोष दूर करनेमें उद्युक्त रहते हैं वे निरपेक्ष पुरुष आलोचना मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं। जो भी वे दूसरे प्रतिक्रमण आदि लेकर मूलपर्यंतके प्रायश्चित्त स्वयं ग्रहण कर शुद्ध हो लेते हैं ॥ १७४ ॥

यहां तक निरपेक्ष पुरुषोंका वर्णन किया आगे सापेक्षोंका कहते हैं;—

आचार्यो वृषभो भिक्षुरिति सापेक्षास्त्रिधा ।
[illegible] वृषभः सूरिः कृत्याकृत्येतरौ पुनः ॥१७५

अर्थ—सापेक्ष पुरुष तीन प्रकारके होते हैं। आचार्य, वृष-

प्रधान, और भिक्षु—सामान्य साधु। इनमेंसे आचार्य और प्रधान पुरुष गीतार्थ अर्थात् सकल शास्त्रोंके वेत्ता होते हैं तथा कृत-कृत्य-सम्पूर्ण शास्त्रोंके व्याख्याता भी होते हैं और अकृतकृत्य भी होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता तो होते हैं परन्तु व्याख्याता नहीं होते। भावार्थ—गीतार्थ कृतकृत्य और अकृत-कृत्य ऐसे तीन तीन प्रकारके आचार्य और वृषभ पुरुष होते हैं॥

गीतार्थश्चेतरो भिक्षुः कृतकृत्येतरस्तयोः।
आद्यः स्यादपरो द्वेधाधिगतश्चेतरोऽपि च॥

अर्थ—भिक्षु दो तरहका होता है—गीतार्थ और अगीतार्थ। उनमेंसे पहला गीतार्थ दो तरहका है कृतकृत्य और अकृतकृत्य अगीतार्थ भी दो तरहका है—अधिगत और अनधिगत। जो शास्त्रज्ञानसे तो शून्य है परन्तु स्वयं विचारक है उसे अधिगतार्थ कहते हैं और जो केवल गुरुके उपदेश पर ही निर्भर रहता है उसे अगीतार्थ कहते हैं॥ ५८॥

द्विधानधिगतो भिक्षुः स्यात्स्थिरास्थिरभेदतः।
अत्राद्यास्त्वनधिगते वाच्योऽस्थिरनामनि॥

अर्थ—स्थिर और अस्थिरके भेदसे अनधिगत पदार्थ दो तरहका है। जो धर्ममें निश्चल है वह स्थिर कहा जाता है और जो चारित्रमें चलायमान है वह अस्थिर कहा जाता है। सागर-के इन आठ भेदोंमें अस्थिर नामक अनधिगत पदार्थसे बोध हो

प्रायश्चित्त है—अर्थात् उस समय वह जो चाहे वही प्रायश्चित्त उसे देना चाहिए ॥ १७७ ॥

कल्प्याकल्प्यं न जानाति नानिषेवितसेवितं ।
अल्पानल्पं न बुध्येत तेनेच्छाऽबोधनेऽस्थिरे ॥

अर्थ—यह अनगत अस्थिर पुरुष योग्य और अयोग्यको सेव्य और असेव्यको तथा अल्प दोषाचरणको और बहुत दोषाचरणको नहीं जानता इसलिए उसके लिए इच्छा ही प्रायश्चित्त है ॥ १७८ ॥

कर्मोदयवशाद्दोषोऽधिगतेषु भवेद्यदि ।
तेषां स्याद्दशधा शुद्धिरागमाभ्यनुरागतः ॥१७९

अर्थ—यदि अधिगत परमार्थ पुरुषोंको कर्मके उदयसे कोई दोष लग जाय तो उनकी शुद्धि आगममें अनुराग होनेसे आलोचना आदि लेकर श्रद्धान पर्यंत दश तरह ॥ १७९ ॥

इति श्रीनन्दिगुरुविरचिते प्रायश्चित्तसमुच्चये चूलिकाधिकारः षष्ठः ॥ ६ ॥

छेद-अधिकार ॥ ७ ॥

अब दश प्रकारका प्रायश्चित्त कहा जाता है। प्रथम प्राय-श्चित्तका लक्षण और निरुक्ति कहते हैं;—

प्रायश्चित्तं तपः श्लाघ्यं येन पापं विशुद्ध्यति ।
प्रायश्चित्तं समाप्नोति तेनोक्तं दशधेह तत् ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त नामका तपश्चरण अत्यंत ही श्लाघ्य तप-श्चरण है जिसके कि अनुष्ठानसे इस जन्ममें और पूर्वजन्ममें उपा-र्जन किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं तथा प्रायः—लोक अर्थात् साधर्मीवर्गका चित्त-मन प्रसन्न होता है। इस कारण वह प्राय-श्चित्त यहां दशप्रकारका कहा गया है। तदुक्तं—

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

प्रायोनाम लोक अर्थात् साधर्मीवर्गका है और चित्त नाम मनका है। साधर्मियोंके मनको ग्रहण करनेवाले अर्थात् उनके मनको प्रसन्न करनेवाले क्रिया-कर्मको प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयनं युतं ।
तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तं निगद्यते ॥

प्रायो नाम तपका है और चित्त नाम निश्चययुक्तका है।

निश्चययुक्त तपको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्राय नाम मनुष्य लोकका है उनका चित्त जिस कर्मके करनेमें है वह प्रायश्चित्त है अथवा प्राय नाम अपराधका है और चित्त नाम विशुद्धिका है अपराधकी विशुद्धिको प्रायश्चित्त कहते हैं।

यह प्रायश्चित्त प्रमादजनित दोषोंको दूर करनेके लिए, भावोंकी अर्थात् संक्लिष्ट परिणामोंकी निर्मलताके लिए, अन्तरंग परिणामोंको विचलित करनेवाले दोषोंको दूर करनेके लिए, अनवस्था अर्थात् अपराधोंकी परंपराका विनाश करनेके लिए, प्रतिज्ञात व्रतोंका उल्लंघन न हो इसलिए और संयमकी दृढ़ताके लिए किया जाता है ॥ १८० ॥

प्रायश्चित्त कौन दे ? यह बताते हैं;—

प्रायश्चित्तविधावत्र यथानिष्पन्नमादितः ।
दातव्यं बुद्धियुक्तेन तदेतद्दशधोच्यते ॥ १८१ ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त देना साधारण मनुष्योंका कार्य नहीं है। उसके देनेमें बुद्धिमान पुरुष ही नियुक्त है अतः वे पूर्वोक्त विधिके अनुसार आगे कहा जानेवाला दश प्रकारका प्रायश्चित्त दें॥

आगे दशप्रकारके प्रायश्चित्तके नाम बताते हैं;—

आलोचना प्रतिक्रान्तिर्द्वयं त्यागो विसर्जनं ।
तपः छेदोऽपि मूलं च परिहारोऽभिरोचनं ॥

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, त्याग, व्युत्सर्ग,

तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश प्रायश्चित्तके भेद हैं।

१—गुरुके समक्ष दशदोष रहित अपने दोष निवेदन करना आलोचना है। वे दश दोष ये हैं—

आकंपिअ अणुमाणिअ जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥

आकंपित, अनुमापित, यद्दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना दोष हैं।

(१) महाप्रायश्चित्तके भयसे, अल्पप्रायश्चित्तके निमित्त, उपकरण आदि देकर आचार्यको अपने अनुकूल करना आकंपित नामका पहला आलोचना दोष है।

(२) इस समय प्रार्थना की जायगी तो गुरुमहाराज मुझ पर अनुग्रह कर थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अनुमानसे भांपकर, "वे धन्य हैं जो वीर पुरुषों द्वारा आचरण किये गये उत्कृष्ट तपको करते हैं" इस प्रकार महातपस्वियोंकी स्तुति करते हुए तपमें अपनी कमजोरी प्रकाशित करना अनुमापित नामका दूसरा आलोचना दोष है।

(३) जो दोष दूसरोंने न देखा हो उसे छिपाकर जो दूसरोंने देखा है उसे कहना तीसरा यद्दृष्ट नामका आलोचना दोष है।

(४) आलस्य या प्रमादवश अपने सब दोषोंको न जानते हुए सिर्फ स्थूल दोष कहना, अथवा स्थूल दोष कहना और सूक्ष्म दोष छिपा लेना चौथा बादर नामका आलोचना दोष है।

(५) महादुश्चर प्रायश्चित्तके भयसे स्थूल दोषको छिपाकर सूक्ष्म दोष कहना सूक्ष्म नामका पांचवां आलोचना दोष है।

(६) व्रतोंमें इस प्रकारका अतीचार लग जाय तो उसका प्रायश्चित्त क्या होना चाहिए इस ढंगसे गुरुसे पूछकर उसके बताये हुए प्रायश्चित्तको करना छट्ठा छन्न नामका आलोचना दोष है।

(७) पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक अतीचारोंकी शुद्धिके समय जब सारी मुनिसमुदाय एकत्रित हो और उस समय उनके द्वारा निवेदित आलोचनाओंके कथनका प्रचुर कोलाहल हो रहा हो तब अपने पूर्वदोष कहना सातवां शब्दाकुल नामका आलोचना दोष है।

(८) गुरुने जो प्रायश्चित्त बताया है वह आगमानुकूल है या नहीं इस तरह सशंकित होकर अन्य साधुओंसे पूछना अथवा अपने सदृश किसीको प्रायश्चित्त दिया हो पश्चात् उन्होंने उस प्रायश्चित्तको किया हो उसीको अपने भी कर लेना बहुजन नामका आठवां आलोचना दोष है।

(९) कुछ भी प्रयोजन समझकर, अपनेसे ज्ञान अथवा संयम में नीच साधुको [illegible] किया हुआ प्रायश्चित्त [illegible] नहीं होगा" इस प्रकार अपने दोष निवेदन कर

से प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त नामका नौवां आलोचना दोष है । (१०) इसके अपराधके बराबर ही मेरा अपराध है इसका प्रायश्चित्त तो यही जानता है अतः इसको जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिए भी युक्त है इस तरह उस अपनी बराबरी वालेसे ही प्रायश्चित्त ले लेना दशवां तत्सेवी नामका आलोचना दोष है।

२—कर्मवश प्रमादके उदयमें जो अपराध मुझसे हुआ है वह मेरा अपराध शान्त हो इस तरहके शब्दोच्चारणों द्वारा अपने अपराधका व्यक्त प्रतीकार करना प्रतिक्रमण नामका दूसरा प्रायश्चित्त है ।

३—कोई दोष आलोचनामात्रसे ही शुद्ध हो जाते हैं और कोई प्रतिक्रमणसे शुद्ध होते हैं परन्तु कोई दोष ऐसे हैं जो आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंके मिलने पर शुद्ध होते हैं इसीको तदुभय कहते हैं ।

४—संसक्त (मिले हुए) अन्न पान, उपकरण आदिको छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है । अथवा शुद्ध आहारमें भी अशु-द्धपनेका संदेह और विपर्यय हो जाय, अथवा अशुद्धमें शुद्धका निश्चय हो जाय अथवा त्याग की हुई वस्तु पात्र या मुखमें आ जाय, अथवा जिस वस्तुके ग्रहण करनेमें कषाय आदि भाव उत्पन्न हों उन सबका त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है ।

५—अन्तर्मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास आदि कालका नियम कर कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है ।

६—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, आदि तप करना अथवा उपवास आचाम्ल, एकभुक्ति आदि तप करना तप प्रायश्चित्त है।

७—चिर दीक्षित सापराध साधुकी दिवस, पक्ष मास आदि के विभागसे दीक्षाछेद देना छेद प्रायश्चित्त है।

८—अपरिमित अपराध बन जाने पर उस दिनसे लेकर सम्पूर्ण दीक्षाको नष्ट कर फिर दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है।

९—पक्ष, मास आदिकी अवधि तक संघसे बाहर कर देना परिहार प्रायश्चित्त है।

१०—सौगत आदि मिथ्यामतोंको प्राप्त होकर स्थित हुए साधुको पुनः नवीन तौरसे दीक्षा देना श्रद्धान-उपस्थापना प्रायश्चित्त है ॥ १८२ ॥

करणीयेषु योगेषु छद्मस्थत्वेन सन्मुनेः ।
उपयुक्तस्य दोषेषु शुद्धिरालोचना भवेत् ॥१८३॥

अर्थ—अवश्य करने योग्य तपोविशेषमें अथवा मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियोंके विषयमें सावधान होते हुए भी छद्मस्थताके कारण दोष लगने पर आलोचना प्रायश्चित्त होता है॥

संज्ञोद्भ्रान्तविहारादावीर्यासमितिसंयतः ।
यो गुप्तिष्वप्रमत्तश्च निर्दोषोऽपि च संयमे ॥१८४॥
आलोचनापरीणामो यावदायाति नो गुरुं ।
तावदेव स नो शुद्धः समालोच्य विशुद्ध्यति ॥

अर्थ—संज्ञा—कायमलके त्यागनेमें, उद्भ्रान्त—दूसरे ग्राम-को सिर्फ जानेमें, आदि शब्दसे और भी गमन—आगमन (इधर-उधर जाने आने) आदि क्रियाओंके करनेमें ईर्यासमिति-से युक्त होते हुए, तीनों गुप्तियोंके पालनमें कोई तरहका प्रमाद न करते हुए, प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमके पालन करनेमें भी दोष न लगाते हुए तथा दोषोंके निवेदन करनेमें भाव होते हुए भी जब तक वह साधु संज्ञा, उद्भ्रान्त, विहार आदि क्रियाओं-को करके गुरुके पास न आवे तब तक शुद्ध नहीं है—अशुद्ध है सदोष है। बाद गुरुके पास आकर आलोचना करके शुद्ध-निर्दोष होता है ॥ १८४-१८५ ॥

ये विहर्तुं विनिष्क्रान्ता गणाचरणसंयताः ।
आगतानां पुनस्तेषां शुद्धिरालोचना भवेत् ॥

अर्थ—जो कोई मुनि किसी प्रयोजन वश अपने गणसे निकलकर एकाकारपूर्वक विहार करनेके लिए चले जांय वे जब लौटकर वापिस आवें तब उनके लिए उसका आलोचना प्रायश्चित्त है ॥ १८६ ॥

अन्यसंघगतानां च विशुद्धाचारधारिणां ।
उपसंपल्समेतानां शुद्धिरालोचना भवेत् ॥१८७॥

अर्थ—जो कोई मुनि अपने आचरणमें कोई तरहका दोष न लगाते हुए दूसरे संघको जाकर अपने संघमें वापिस आवें तो उनके लिए उसका आलोचना प्रायश्चित्त है ॥ १८७ ॥

आगे प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त कब देना चाहिए यह बताते हैं—

मनसावद्यमापन्नो वाचाऽऽसाद्य गुरूनथ ।
उपयुक्तो वधे चापि द्रागभवेत्तन्निवर्तनं ॥१८८॥

अर्थ—जो मनके द्वारा दुश्चिन्तवनरूप दोषको प्राप्त हुआ हो जिसने वचनोंसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदिकी अवज्ञा की हो और जो कायद्वारा लात, थप्पड़ आदि मारनेमें प्रवृत्त हुआ हो उसके लिए इस अपराधका प्रायश्चित्त शीघ्र प्रतिक्रमण कर लेना है ॥ १८८ ॥

तत्क्षणाद्वेगयुक्तस्य पश्चात्तापमुपेयुषः ।
स्वयमेवात्मसाक्षि स्यात्प्रायश्चित्तं विशोधनं ॥

अर्थ—जिस समय दोषरूप परिणत हो उसके अनन्तर उद्वेग अर्थात् चतुर्गति संसाररूप अंधकूपमें पतनके भयसे होते हुए तथा पश्चात्ताप करते हुए उस साधुके लिए स्वयं आत्मसाक्षीपूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है अर्थात् वह स्वयं प्रकार प्रतिक्रमण करता है कि हा ! मुझे धिक्कार है, मैंने बड़ा किया, बड़ा दुष्कृत किया हा ॥ १८९ ॥

वैयावृत्यक्रियाभ्रंशे छेदघोवातजृंभणे ।
दुःस्वप्ने विस्मृते चापि प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—वैयावृत्य करना भूल जाने पर, छींक, अशोल (घाव) पर जँभाई आने पर, दुःस्वप्न होने पर तथा साधुओं

प्रतिदिन औषध आदि देना भूल जाने पर भी प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है ॥ १६० ॥

आभोगे वाप्यनाभोगे भिक्षाचर्यादिके क्वचित् ।
कथंचिदुत्थिते दंडे प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥१९१॥

अर्थ—भिक्षार्थ जाना आदि कोई एक क्रियाविशेषके समय लोगोंने देखा हो या न देखा हो कदाचित् किसी कारणवश लिंगोत्थान (लिंगके खड़) हो जाने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है। तदुक्तं[1]—

गोयरगयस्स लिंगुट्ठाणे अण्णस्स संकिलेसे य ।
णिंदणगरहणजुत्तो णियमो वि य होदि पडिक्कमणं ॥

अर्थात् भिक्षाके लिए प्रवृत्त हुए साधुका लिंगोत्थान होजाने पर और अपने द्वारा अन्यका संक्लेश होने पर अपनी निंदा और गर्हासे युक्त नियम नामका प्रतिक्रमण होता है ॥ १६१ ॥

सूक्ष्मे दोषे न विज्ञाते छद्मस्थत्वेन चागसां ।
अनाभोगकृतानां च विशुद्धिस्तद्द्वयं भवेत् ॥

अर्थ—अत्यन्त सूक्ष्म दोष जो कि छद्मस्थताके कारण जाननेमें न आया कि यह दोष है, ऐसे दोषकी तथा अनाभोग

[1] गोचरगतस्य लिंगोत्थानेऽन्यस्य संक्लेशे च ।
निन्दनगर्हणयुक्तो नियमोऽपि च भवति प्रतिक्रमः ॥

कृत अर्थात् दोष तो लगे पर जाने नहीं गये ऐसे दोषोंकी विशुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों हैं ॥ १६२॥

दिवसे निशि पक्षेऽब्दे चतुर्मासोत्तमार्थके।
शैव्यानाभोगकार्येषु पदं यो युक्तयोगिनः ॥
आलोचनोपयुक्तोपि विप्रमादो न वेत्त्यघं।
अनिगूहितभावश्च विशुद्धिस्तस्य तद्द्वयं ॥१९४॥

अर्थ—जो साधु अपना आचरण उचित रीतिसे पालन कर रहा है, आलोचना करनेमें तत्पर है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें सावधान है किन्तु अपने दोषोंको नहीं जानता है तथा अपने भावोंको भी नहीं छिपाता है उसके—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थक प्रतिक्रमणोंके सहसा करनेका और दोष तो लगा पर उसका ज्ञान न हुआ ऐसे अदृष्ट दोष विशेषके करनेका आलोचना और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है ॥ १६३—१६४ ॥

शय्यामथोपधिं पिंडमादायैषणदूषणं।
प्रागविज्ञाय विज्ञाते प्रायश्चित्तं विवेचनं ॥१९५॥

अर्थ—वसतिका, उपकरण और आहार, पहले ग्रहण करते समय शंकित आदि एषणाके दश दोषोंसे दूषित न जानकर ग्रहण किये गये हों पश्चात् उनका ज्ञान होने पर उनको छोड़ देना ही प्रायश्चित्त है ॥ १६५ ॥

क्षपानं विशुद्धं च समादायैषणाहतं।
न्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—एषणादोषोंसे दूषित प्रासुक भी आहार पानको
ग्रहण कर, जितना दूषित है उतनेको या सबके सब सदोष
और निर्दोष आहार—पानको छोड़ देने वाला विशुद्ध है—
प्रायश्चित्तरहित है। भावार्थ—आहार तो प्रासुक—शुद्ध बना
हुआ हो पर वह एषणा दोषोंसे दूषित हो गया हो ऐसे आहार
पानके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त उसको छोड़ देना ही है और
कोई जुदा प्रायश्चित्त नहीं ॥ १९६ ॥

क्षपानं विशुद्धं च कोटिशुद्धमशुद्धियुक्।
न्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—प्रासुक भी अन्न पान, क्या यह अन्न पान ग्रहण
ग्रहण करने योग्य है या नहीं? ऐसी आशंका से युक्त हो गया
हो तो वह अशुद्ध है अतः उतने ही—जितनेमें कि आशंका
उत्पन्न हुई है अथवा सबके सब सदोष और निर्दोष आहारको
भी त्याग देनेवाला विशुद्ध है प्रायश्चित्तरहित है। भावार्थ—
प्रासुक भी आहारमें यह योग्य है या अयोग्य ऐसी आशंका
होने पर उस आहारको छोड़ देना ही उसका प्रायश्चित्त है
अन्य नहीं ॥ १९७ ॥

किया हुआ है अथवा पिंडशुद्धिमें देश कालकी अपेक्षा; जिसका लेना निषिद्ध है वह भोजन यदि हाथमें रक्खा गया हो, या पात्रमें परोसा गया हो या मुखमें लिया गया हो तो उसका विवेक प्रायश्चित्त है ॥ २०० ॥

उत्पथेन प्रयातस्य सर्वत्राभावतः पथः ।
निग्धेन च निशीथार्द्धविनष्टस्वप्नदर्शने ॥२०१॥

अर्थ—चारों दिशाओंमें मार्ग न मिलने पर उन्मार्ग होकर चलनेका, गीले अनाप्रुक मार्ग होकर चलनेका या हरी घास वगैरह पर होकर गमन करनेका और आधीरात बीत जानेके बाद बुरे सपने देखनेका प्रायश्चित्त एक कायोत्सर्ग है ॥ २०१ ॥

संस्तरस्य बहिर्देशेऽचक्षुषो विषये मृते ।
रात्रौ प्रसृष्टशय्यायां पतमुखोपवेशने ॥ २०२ ॥

अर्थ—उजेलेमें शयन स्थानका प्रतिलेखन कर रात्रिमें यत्नपूर्वक सोये और बैठे हों, पश्चात् सूर्योदय होने पर संथारेके इधर उधर जहां नजर नहीं पहुंचती एवं पासही के चलने फिरनेके स्थानमें कोई जीव मरा हुआ देखनेमें आवे तो उसका प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग है ॥ २०२ ॥

व्यापन्ने च त्रसे दृष्टे नद्याभागादकारणात् ।
नावा निर्दोषयोत्तारे कायोत्सर्गो विशोधनं ॥

अर्थ—मरे हुये त्रस जीवोंके देखनेका और दूसरोंके लिए

भक्तपानं विशुद्धं च भावदुष्टमशुद्धिमत्।
सर्वमेवाथ तज्जुष्टं विशुद्धः संपरित्यजन्॥

अर्थ—शुद्ध भी अन्न-पान यदि परिणामोंसे दूषित हो जाय अर्थात् उसमें बुरे परिणाम हो जांय तो वह शुद्ध भी भोजन अशुद्ध हो जाता है। अतः उस सारे ही सदोष और अदोष भोजनको या जितना परिणामोंसे दूषित हुआ है उतनेको छोड़ देने वाला शुद्ध है—उस भोजनको छोड़ देना ही उसके लिए विवेक नामका प्रायश्चित्त है और कोई जुदा प्रायश्चित्त नहीं ॥ १६८ ॥

भक्तपाने विशुद्धेऽपि क्षेत्रकालसमाश्रयात्।
द्रव्यतः स्वीकृते रात्रौ विशुद्धस्तत्परित्यजन्॥

अर्थ—देश और कालके आश्रयसे कि इस देशमें दुर्भिक्ष है या यह समय दुर्भिक्षका है न जाने फिर आहार मिलेगा या नहीं इस प्रकार दुर्भिक्ष आदि किसी भी कारणका मनमें संकल्प कर अथवा शरीरमें कोई रोग वगैरह होनेके कारण निर्दोष रीतिसे तैयार किये गये शुद्ध भी अन्न-पानको रात्रिमें लेना स्वीकार करने पर विवेक (उस भोजनको त्याग देना ही) प्रायश्चित्त होता है ॥ १६९ ॥

प्रत्याख्यातं निषिद्धं यद्भक्तपानादिकं भवेत्।
तत्पाणिपात्रास्यसंस्थं विशुद्धः परिवर्जयेत्॥

अर्थ—जो अन्न, पान, खाद्य, लेह्य आदि भोजन त्याग

किया हुआ है अथवा विशुद्धिमें देश कालकी अपेक्षा; जिसका लेना निषिद्ध है वह भाजन यदि हाथमें रक्खा गया हो, या पात्रमें परोसा गया हो या मुखमें लिया गया हो तो उसका विवेक प्रायश्चित्त है ॥ २०० ॥

उत्पथेन प्रयातस्य सर्वत्राभावतः पथः ।
स्निग्धेन च निशीथाद्र्ध्वविपर्यस्वप्नदर्शने ॥२०१॥

अर्थ—चारों दिशाओंमें मार्ग न मिलने पर उन्मार्ग होकर चलनेका, गीले अनाप्रासुक मार्ग होकर चलनेका या हरी घास वगैरह पर होकर गमन करनेका और आधीरात बीत जानेके बाद बुरे सपने देखनेका प्रायश्चित्त एक कायोत्सर्ग है ॥ २०१ ॥

संस्तरस्य बहिर्देशेऽचक्षुषो विषये मृते ।
रात्रौ प्रसृष्टशय्यायां यत्नसुप्तोपवेशने ॥ २०२ ॥

अर्थ—उजेलेमें शयन स्थानका प्रतिलेखन कर रात्रिमें यत्नपूर्वक सोये और बैठे हों, पश्चात् सूर्योदय होने पर संथारेके इधर उधर जहां नजर नहीं पहुंचती ऐसे पास ही के चलने फिरनेके स्थानमें कोई जीव मरा हुआ देखनेमें आवे तो उसका प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग है ॥ २०२ ॥

व्यापन्ने च त्रसे दृष्टे नद्याश्चागाढकारणात् ।
नावा निर्दोषयोत्तारे कायोत्सर्गो विशोधनं ॥

अर्थ—मरे हुये त्रस जीवोंके देखनेका और दूसरोंके लिए

तयार की गई नाव आदिके द्वारा विना मूल्य नदी, समुद्र, तालाब आदि पार करनेका कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥ २०३ ॥

क्रम्यादौ निर्गते देहाद्देहासक्तमृते त्रसे।
महिकायां महावाते त्रसोत्थाने गतावपि ॥
लोचानध्यासने रात्रावदृष्टे मलवर्जने।
जीर्णोपधिपरित्यागे कायोत्सर्गो विशोधनं ॥

अर्थ—शरीरसे कृमि (लट) आदिके निकलने पर, अपने शरीरका स्पर्श पाकर अपने ही आप दो इंद्रिय आदि त्रस जीवोंके प्राण दे देने पर, जिनमें चींटी, डांस मच्छर आदि त्रस जीवोंका अधिक संचार हो ऐसी पृथिवी और प्रचंडवायुमें हो कर गमन करने पर, केशलोचको पाया न गह सकने पर, रात्रिमें और दिनमें अशोधित स्थानमें मल-मूत्र करने पर, और पुराने तृण, चटाई आदि उपकरणोंके छोड़ने पर, कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है ॥ २०४-२०५ ॥

श्रुतस्कंधपरीवर्तस्वाध्यायस्य विसर्जने।
काल्याशुल्लंघनं स्याचेत्कायोत्सर्गो विशोधनं ॥

अर्थ—पूर्ण श्रुतस्कंधका या उसके किसी भागका पाठ और प्रस्तावका भाव अथवा द्वादशांगका व्याख्यान और व्याख्यापके पूर्ण होने पर और वाचना, पृच्छना, स्वाध्याय आदिके समयका उल्लंघन होने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। भावार्थ—पूर्व

द्वादशांग शास्त्रका या उसके किसी एक भागका पाठ करते समय, तथा पंचपदका जाप करते समय अथवा द्वादशांग शास्त्रका व्याख्यान और स्वाध्याय करते समय केवल अर्थमें केवल व्यंजनमें और अर्थ-व्यंजन दोनोंमें अत्यंत जल्दी २ बोलना, धीरे धीरे बोलना, अक्षर, पदार्थ, हीन या अधिक बोलना इत्यादि दोष लगा करते हैं। अतः उन दोषोंकी शुद्धिके निमित्त उन सिद्धान्त शास्त्रोंका व्याख्यान और स्वाध्याय पूरा होने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। तथा इनका समय चूकने पर भी यही प्रायश्चित्त होता है ॥ २०६ ॥

दिवसे निशि पक्षेऽब्दे चतुर्मासोत्तमार्थके।
मासे च द्रागनाभोगे कायोत्सर्गो विशोधनं ॥

अर्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थक (अंत्य) प्रतिक्रमणक्रियाओंको जल्दी जल्दी करने पर, तथा अपरिज्ञात दोष विशेषके लगने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है ॥ २०७ ॥

एवमादितनूत्सर्गविधिमुल्लंघने यदा।
असावाप्नोति छेदभूमिं च तपोभूमिं तदा श्रयेन ॥

अर्थ—जिस समय जो मुनि ऊपर बताई हुई कायोत्सर्ग-विधिका उल्लंघन करता है वह उस समय छेद प्रायश्चित्तका प्राप्त न होता हुआ उपवासादि तप प्रायश्चित्तका प्राप्त होता है ॥

नीरसः पुरुमंडश्चाप्याचाम्लं चैकसंस्थितिः ।
क्षमणं च तपो देयमेकैकं द्व्यादिमिश्रकं ॥२०९॥

अर्थ—निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल, एकस्थान, और उपवास यह पांच प्रकारका तप एक एक, दो दो, तीन तीन, चार चार और पांच पांच भंगोंमें विभक्त कर आलोचना कायोत्सर्ग आदि और और प्रायश्चित्तोंके साथ साथ देना चाहिए। भावार्थ—निर्विकृति, पुरुमंडल, आचाम्ल, एकासन और उपवास इनके प्रत्येक भंग, द्विसंयोगी भंग, त्रिसंयोगी भंग, चतुःसंयोगी भंग और पंचसंयोगी भंग पहले परिच्छेदमें कह आये हैं ये सब भंग तप प्रायश्चित्तके भेद हैं अतः कहीं एक एक, कहीं दो दो, कहीं तीन तीन, कहीं चार चार और कहीं पांच पांच भंगयुक्त तप प्रायश्चित्त आलोचना आदि प्रायश्चित्तोंके साथ साथ देना चाहिए ॥ २०८ ॥

आषण्मासमिदं सर्वं सान्तरं च निरन्तरम् ।
अन्त्यतीर्थे न विद्येत तत ऊर्ध्वं तपोऽधिकम् ॥

अर्थ—यह ऊपर कहा हुआ सर्व प्रकारका तप प्रायश्चित्त सान्तर और निरन्तर छह महीने तक करना चाहिये, अधिक नहीं। क्योंकि वर्धमान स्वामीके तीर्थमें छह माससे ऊपर अधिक तप नहीं है। भावार्थ—अंतिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान स्वामीके तीर्थमें मनुष्योंकी आयु, काय और शक्ति बहुत न्यूनताको लिए हुए है अतः उनकी शक्तिके अनुसार ही तप प्रायश्चित्त दाना

चाहिए। यद्यपि प्रायश्चित्त पापोंकी शुद्धि करनेवाला है पर तो भी शक्तिके अनुसार किया हुआ ही पापोंका नाश करता है। शक्तिके बाहर करनेमें आर्तध्यान आदि अशुभ परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं जिनका फल अशुभ ही बताया गया है। उपर्युक्त सान्तर तथा निरन्तर तप करनेका विधान इस प्रकार है। प्रथम प्रत्येक भंगकी अपेक्षामें बताते हैं। एक दिन छोड़ कर निर्विकृति आदिके करनेको सान्तर कहते हैं तथा एक दिन न छोड़कर दो दो दिन तीन तीन दिन आदि दिनों तक लगातार करनेको निरंतर कहते हैं। सो ही कहते हैं। एक दिन निर्विकृति दूसरे दिन सामान्य आहार, फिर निर्विकृति फिर दूसरे दिन सामान्य आहार इस तरह एकान्तरसे पूर्ण छह महीने तक निर्विकृति की जाती है। दो दो निर्विकृति एक सामान्य आहार फिर दो दो निर्विकृति एक सामान्य आहार इस तरह निरन्तर छह महीने तक निर्विकृति समझना चाहिए। इसी तरह तीन तीन निर्विकृति एक सामान्य आहार तथा चार चार निर्विकृति एक सामान्य आहार, तथा पांच पांच निर्विकृति एक सामान्य आहार इत्यादि विधिके अनुसार निरन्तर छह महीने तक निर्विकृतिका क्रम समझना चाहिए। जिस तरह सान्तर और निरन्तर निर्वि- कृतिके करनेका क्रम है उसी तरह पुरु डल, आचाम्ल, एक- स्थान और उपवासका समझना चाहिए यह हुआ एक भंगकी अपेक्षा। द्विसंयोगी भंगोंकी अपेक्षा निर्विकृति और पंदरह वें दो करके सामान्य आहार करना इस तरह छह म

तक करना। इसी तरह निर्विकृति और आचाम्ल, निर्विकृति और एकस्थान, निर्विकृति और उपवास आदि द्विसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर क्रम समझना चाहिए। दो दो, तीन तीन, चार चार, पांच पांच, छह छह आदि द्विसंयोगी शलाकाओंको करके सामान्य आहार करना निरन्तर द्विसंयोगी शलाकाओंके करनेका क्रम है। इसी तरह त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी शलाकाओंको सान्तर और निरन्तर छह महीने तक करना चाहिए। एवं षष्ठोपवास, (बेला) अष्टमोपवास (तेला) दशमोपवास (चोला) द्वादशोपवास (पचौला) पक्षोपवास, मासोपवास आदि तथा एककल्याण पंचकल्याणक आदि विशेष तपोंका संग्रह भी यहां पर समझना चाहिए। इस तरह यह कल्पव्यवहार प्रायश्चित्तका अभिप्राय है ॥ २१० ॥

अपमृष्टे परामर्शे कंडूत्याकुंचनादिषु ।
जल्लखेलादिकोत्सर्गे पंचकं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—बिना प्रतिलेखन की हुई वस्तुओंको स्पर्श करनेका खाज खुजानेका हाथ पैर आदिके संकोचने, पसारने, आदि शब्दसे उद्वर्तन परावर्तन आदि क्रियाविशेषके करनेका, तथा अप्रतिलेखित स्थानमें मल-मूत्र करने कफ डालने आदिका कल्याणक प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ २११ ॥

दंडस्य च करोद्वर्ते जंघासंपुटवेशने ।
कंटकाद्यननुज्ञातभंगादाने च पंचकं ॥ २१२ ॥

अर्थ—लिंगका हाथसे परिमर्दन करने पर, उसे दोनों जंघाओंके मध्यमें रखने पर तथा कांड, ईंट, काष्ठ, खपरे, भस्म गोमय आदि बिना दी हुई चीजोंको तोड़ने-फोड़ने और ग्रहण करने पर, कल्याणक प्रायश्चित्त होता है॥ २१२॥

तंतुच्छेदादिके स्तोके दन्ताङ्गुल्यादिभिस्तथा।
इत्यादिकं दिवाऽणीयो गुरुः स्याद्रात्रिसेवने॥

अर्थ—सूक्ष्म तंतु, तृण, काष्ठ आदि वस्तुओंको दान्त, अंगुली आदिसे तोड़ने-फोड़नेका पंचक प्रायश्चित्त है। इन तंतु-च्छेदन आदि कृत्योंको दिनमें करे तो लघुतर प्रायश्चित्त और रात्रिमें करे तो गुरुतर प्रायश्चित्त होता है॥ २१३॥

प्रायश्चित्तं चरन् ग्लानो रोगादातंकतो भवेत्।
नीरोगस्य पुनस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत्॥

अर्थ—दिये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करता हुआ मुनि यदि किसी रोगसे या अकस्मात् शिर शूल आदिके निमित्तसे पीड़ित हो जाय तो उसका नीरोग होने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ २१४॥

प्रायश्चित्तं वहन् सूरेः कार्यं समाधयेन सुधीः।
परदेशे स्वदेशे वा दातव्यं तस्य पंचकं॥२१५॥

अर्थ—उपवास आदि प्रायश्चित्त करता हुआ बुद्धिमान मुनि देशान्तरमें जाकर या स्वदेशमें ही जाकर आचार्य (गुरु)

का कोई कार्य साधन करे तो उसको कार्यसाधन कर वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१५ ॥

सालंबो यत्नतोऽध्वानं योऽभिव्रजति संयतः।
निस्तीर्णस्य सतस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—जो कोई संयत, किसी देव ऋषिके कार्यके निमित्त यत्नपूर्वक मार्ग गमन करे-कहीं जाय तो उसको लौटकर वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१६ ॥

नखच्छेदादिशस्त्रादि वास्याद्यैर्दंडकादिके।
लघुगुर्वेकचत्वारः परश्वाद्यैश्च कर्तने ॥ २१७ ॥

अर्थ—नखच्छेदादि नहनी, छुरा, कैंची आदिसे लकड़ी वगैरह को छीलने पर लघुमास, शस्त्रादि छुरी छुरपा आदि से छीलने पर गुरुमास, वास्यादि वसूला आदिसे छीलने पर लघुचतुर्मास और परश्वादि कुल्हाड़ी आदिसे टुकड़े करने पर गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त होता है ॥ २१७ ॥

एकहस्तोपलाभ्यां च दोर्भ्यां मोद्गरमौसलात्।
लघुगुर्वेकचत्वारः प्रभेदादिष्टकादितः ॥२१८॥

हाथोंमें मुद्गर पकड़ कर तोड़ने-फोड़ने पर लघुचतुर्मास और दोनों हाथोंमें मूसल पकड़कर तोड़ने-फोड़ने पर गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त होता है ॥ २१८ ॥

लघुं गुरुं तनुत्सर्गांस्त्रीनूर्ध्वमासतोऽश्नुते ।
आवश्यकमकुर्वाणश्चतुर्मासांस्तथाविधान् ॥

अर्थ—रोग आदिसे पीड़ित होकर एक माह तक वंदना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग इन तीन आवश्यकोंको न करे तो इस अपराधका प्रायश्चित्त एक लघुमास है। और यदि दर्प (अहंकार) से न करे तो उस अपराधका प्रायश्चित्त एक गुरुमास है। तथा यदि व्याधिवश सभी आवश्यकोंको न करे तो लघुचतुर्मास प्रायश्चित्त है और नीरोग होकर भी परवशताके कारण यदि इन सभी आवश्यक क्रियाओंको न करे तो गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त है ॥ २१९ ॥

आधाकर्मणि राजान्धस्यार्याभ्युत्थानतस्तथा ।
असंयातभिवादे च मासस्याधश्चतुर्गुरुः ॥२२०॥

अर्थ—छहों जीवनिकायोंको बाधा पहुंचानेवाली निकृष्ट क्रियाओं द्वारा उत्पन्न हुआ आहार लेने पर, राजपिंड ग्रहण करने पर, आर्यिकाको आती देखकर उसका विनय करनेके निमित्त सन्मुख जाने पर और असंयतजनोंकी वंदना कर लेने पर एक माह पूर्ण न होने तक चार गुरुमास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २२० ॥

नपुंसकस्य कुत्स्यस्य क्लीवाद्यस्य च दीक्षणे ।
वर्णापरस्य दीक्षायां षण्मासा गुरवः स्मृताः ॥

अर्थ—नपुंसकको, कुष्ठ (कोढ़) ब्रह्महत्या आदि दोषों-से दूषित पुरुषको, क्लीव—दीनको, आदि शब्दसे अत्यन्त बालक और अत्यन्त वृद्धको तथा वर्णापर—दासीपुत्रको दीक्षा देने पर दीक्षादाताको छह गुरुमास प्रायश्चित्त देने चाहिए सो ही छेदपिंडमें कहा है—

अइबालवुड्ढदासेरगब्भिणीसंढकारुगादीणं ।
पव्वज्जा दिंतस्स हु छग्गुरुमासा हवंदि छेदो ॥ १ ॥
अतिबालवृद्धदासेरगर्भिणीषंढकारुकादीनां ।
प्रव्रज्यां ददतः हि षड्गुरुमासाः भवंति च्छेदः ॥

अर्थात् अत्यन्त बालक, अत्यन्तवृद्ध, दासीपुत्र, गर्भिणी स्त्री, नपुंसक, शूद्र आदिको दीक्षा देनेवालेके लिए छह गुरुमास प्रायश्चित्त है ॥ २२१ ॥

तपोभूमिमतिक्रान्तो न प्राप्तो मूलभूमिकां ।
छेदार्हां तपसो भूमिं संप्रपद्येत भावतः ॥२२२॥

अर्थ—जो तपकी योग्यताको उल्लंघन कर चुका हो और मूलभूमिको प्राप्त न हुआ हो वह परमार्थसे छेद योग्य तपो भूमिको प्राप्त होता है । भावार्थ—जो तप प्रायश्चित्तकी योग्यता

में तो बाहर निकल गया हो और मूलप्रायश्चित्तके योग्य न हो तो उसे छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए। तदुक्तं—

तवभूमिमादिक्कंतो मूलट्ठाणं जो न संपत्तो।
से परियायच्छेदो पायच्छित्तं समुद्दिट्ठं ॥ १ ॥

योऽतिचारो न शोध्येत तपसा भूरिणापि च।
पर्यायश्छिद्यते तेन क्लिन्नतांबूलपत्रवत् ॥२२३॥

अर्थ—जो कोई मुनि प्रचुर उपवास आदिके द्वारा भी अपने दोषोंको दूर न कर सकता हो तो सड़े हुए ताम्बूलपत्रके अंशच्छेदकी तरह उसको दीक्षाका अंश छेद देना चाहिए। भावार्थ—जैसे तांबूलपत्रका जितना भाग पानीमें सड़ गल जाता है उतना कैंची वगैरहसे कतर कर फेंक दिया जाता है और शेष भाग रख लिया जाता है उसी तरह बहुतसे उपवास आदि करने पर भी जिसके अपराधोंकी शुद्धि न हो सकती हो उसकी दीक्षामेंसे दिवस, पक्ष, मास आदिकी अवधि तककी दीक्षा छेद देना चाहिए ॥ २२३ ॥

प्रव्रज्याकालतः कालच्छेदेन न्यूनतावहः।
मानापहारकश्छेद एकरात्रादिकः स तु ॥२२४॥

अर्थ—जिस समयसे वह साधु दीक्षा लेता है उस समयसे

---

१ तपोभूमिमतिक्रान्तो मूलस्थानं च यः न संप्राप्तः।
तस्य पर्यायच्छेदः प्रायश्चित्तं समुद्दिष्टं ॥

पार्श्वस्थे विहरन् सार्धं सकृद्दोषनिषेवकः।
आपण्मासं तपस्तस्य भवेच्छेदस्ततः परं ॥

अर्थ—एक बार दोष सेवन करनेवाला जो कोई साधु छह महीने तक पार्श्वस्थ साधुओंके साथ पर्यटन करता हुआ जब लौट कर संघमें वापिस आवे तब उसे तप प्रायश्चित्त और छह महीने बाद आनेसे छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २२८ ॥

कृताधिकरणो गच्छऽनुपशान्तः प्रयाति यः ।
तस्य च्छेदो भवेदेष स्वगणेऽन्यगणेऽपि च ॥

अर्थ—जो कोई मुनि संघमें कलह करके क्षमा मांगे विना चला जाय या संघहीमें निवास करता रहे तो उसके लिए स्वसंघमें और परसंघमें नीचे लिखा छेद प्रायश्चित्त है ॥ २२९॥

प्रत्यहं छेदनं भिक्षोः पंचहानि स्वके गणे।
वृषभस्य दशोक्तानि गणिनो दशपंच च ॥२३०॥

अर्थ—सामान्य साधुके लिए स्व गणमें प्रतिदिन पांचदिनका, प्रधानमुनिके लिए प्रतिदिन दश दिनका और आचार्यके लिए प्रतिदिन पंद्रह दिनका दीक्षाच्छेद है। भावार्थ—सामान्य मुनि या प्रधान मुनि या आचार्य कलह करके संघमें बने रहें और एक दिन क्षमा न मांगे तो सामान्य मुनिको पांचदिनकी, प्रधानमुनिको दश दिनकी और आचार्यको पंद्रह दिनकी दीक्षा छेद देनी चाहिए। इस हिसाबसे जितने दिनों तक वे क्षमा न

मांगे उतने दिनों तक प्रतिदिन पांच पांच, दश दश और पंद्रह पंद्रह गुणी दीक्षा छेद देनी चाहिए॥ २३०॥

प्रत्यहं छेदनं भिक्षोर्दशाहानि परे गणे।
दशपंच वृपस्यापि विंशतिर्गणिनः पुनः॥

अर्थ—परगणमें सामान्य साधुके लिए प्रतिदिन दशदिनका, प्रधानमुनिके लिए पंद्रह दिनका और आचार्यके लिए बीस दिन का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त है। भावार्थ—कोई सामान्य साधु कलह करके विना क्षमा कराये परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न मांगे तो दश दिन, दो दिन न मांगे तो बीस दिन एवं प्रतिदिन दश दश दिनके हिसाबसे उसकी दीक्षाका छेद कर देना चाहिए। तथा प्रधान मुनि कलह करके विना क्षमा कराये परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न मांगे तो पंद्रह दिन, दो दिन न मांगे तो तीस दिन, एवं प्रतिदिन पंद्रह पंद्रह दिनके हिसाबसे उसकी दीक्षाका छेद कर देना चाहिए और आचार्य कलह करके विना क्षमा मांगे परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न मांगे तो बीस दिन, दो दिन क्षमा न मांगे तो चालीस दिन एवं प्रतिदिन बीस बीस दिनके हिसाबसे उसकी दीक्षा छेद देनी चाहिए॥ २३१॥

इत्यादिप्रतिसेवासु च्छेदः स्यादेवमादिकः।
छेदेनापि च संछिंद्याद्यावन्मूलं निरन्तरम्॥

अर्थ—इत्यादि दोषोंके सेवन करने पर इस तरहका छेद

प्रायश्चित्त होते हैं छेद करके भी फिर छेद करे, फिर छेद करे, फिर छेद करे, सो निरन्तर छेदते छेदते तब तक छेद करे जब तक कि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त न हो। भावार्थ—कौन कौनसे दोषोंके लगने पर कितने कितने दिनकी दीक्षा छेद देना चाहिए यह ऊपर वर्णन कर आये हैं। यह दीक्षा दोषोंके अनुसार एक दिनको आदि लेकर एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चारदिन, पांच दिन, दश दिन, पक्ष, मास चतुर्मास, छहमास, वर्ष, दीक्षाका आधा भाग, पौना भागको इस तरह छेदते छेदते तब तक छेदी जाय जब तक कि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता ॥ २३२ ॥

छेदभूमिमतिक्रान्तः परिहारमनापिवान् ।
प्रायश्चित्तं तदा मूलं संप्रपद्येत भावतः ॥ २३३ ॥

अर्थ—जो छेद प्रायश्चित्तकी योग्यताको तो उल्लंघन कर चुका हो और परिहार प्रायश्चित्त दिये जाने की योग्यताको न पहुंचा हो उस समय वह परमार्थसे मूल-पुनः दीक्षा देना रूप प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। भावार्थ—ऐसा अपराध जो छेद प्रायश्चित्तसे शुद्ध न हो सकता हो और परिहार प्रायश्चित्तके योग्य न हो ऐसी दशामें मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३३ ॥

श्रामण्यैकगुणा यस्माद्दोषान्नश्यन्ति कार्त्स्न्यतः ।
भ्रष्टव्रतस्य तत्तस्य मूलं स्याद् व्रतरोपणं ॥२३४॥

अर्थ—जिस दोषके सेवनसे महाव्रत बिलकुल नष्ट हो गये हों

ऐसी अवस्थामें महाव्रतोंसे भ्रष्ट उस मुनिको पुनः महाव्रतोंकी दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३४ ॥

दृक्चारित्रव्रतभ्रष्टे त्यक्तावश्यककर्मणि ।
अन्तर्वत्नीमुकुंसोपदीक्षणे मूलमुच्यते ॥ २३५ ॥

अर्थ—दर्शन, चारित्र और महाव्रतोंसे भ्रष्ट हो जाने पर, छह आवश्यक क्रियाएं छोड़ देने पर तथा गर्भिणी और नपुंसकको दीक्षा देनेपर मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३५ ॥

उत्सूत्रं वर्णयेत् कामं जिनेन्द्रोक्तमिति ब्रुवन् ।
यथाच्छंदो भवत्येष तस्य मूलं वितीर्यते ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो आगम विरुद्ध मानता हो उसे मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा जो सर्वज्ञ कथित वचनोंको अपनी इच्छानुसार लोगोंको कहता फिरता हो वह स्वच्छाचारी है अतः उस स्वेच्छाचारीको भी मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए। भावार्थ—आगम विरुद्ध बोलनेवाले और सर्वज्ञ प्रणीत वचनोंका अन्यथा कहनेवाले पुरुषोंके इन अपराधोंकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्तसे होती है ॥ २३६ ॥

पार्श्वस्थादिचतुर्णां च तेषु प्रव्रजिताश्च ये ।
तेषां मूलं प्रदातव्यं यद्व्रतादि न तिष्ठति ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त और मृगचारी इन पार्श्वस्थादि चारोंको और जो इनके पास दीक्षित हुए हैं उनको मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि उनके व्रत आदिक ठहरते नहीं हैं ॥

अन्यतीर्थगृहस्थानां कांदर्पोलिंगकारिणः।
मूलमेव प्रदातव्यमप्रमाणापराधिनः ॥ २३८ ॥

अर्थ—अन्यलिंगियोंको, गृहस्थोंको, उपहास पूर्वक लिंग-धारण करनेवालोंको और अपरिमित अपराधियोंको मूल प्रायश्चित्त ही देना चाहिए। भावार्थ—जो अन्य लिंगी हो गये हों और गृहस्थ हो गये हों वे लौटकर पुनः संयमें आवें तो उन्हें मूल प्रायश्चित्त ही देना चाहिए। तथा जिन्होंने परमार्थसे मुनिवेष धारण न कर उपहाससे धारण किया हो और जिनका अपराध अपरिमित हो उनको भी मूल प्रायश्चित्त ही देना चाहिए॥ २३८॥

इत्यादिप्रतिसेवासु मूलनिर्घातिनीष्वपि।
हरिवंश्यादिदीक्षायां मूलं मूलाधिरोहणात् ॥

अर्थ—मूलगुणोंको घात करनेवाले उपर्युक्त दोषोंके सेवन करने पर तथा चांडाल आदिको दीक्षा देने पर मूल प्राय-श्चित्तकी योग्यता आ उपस्थित होती है अतः मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए। भावार्थ—महाव्रत आदि अट्ठाइस मूलगुणोंके घातक दोषोंके सेवन करने पर मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए और चांडालोंको मुनिदीक्षा देनेवाले आचार्यको भी मूलप्राय-श्चित्त देना चाहिए और जिसको दीक्षा दी जाय उसको संघसे निकाल देना चाहिए॥ २३९॥

गणके आचार्य उसकी आलोचना सुनकर और प्रायश्चित्त न देकर जिस आचार्यने उसे अपने पास भेजा है उन्हींके पास उसे वापिस भेज देते हैं। वे अपने पास भेजनेवालेके पास भेज देते हैं एवं जिस क्रमसे आता है उसी क्रमसे लौटकर अपने संघके आचार्यके समीप आता है। वहां आकर वह गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको पालता है ॥ २४२ ॥

अन्यतीर्थ्यं गृहस्थं स्त्रीं सचित्तं वा सकर्मणः।
चोरयन् बालकं भिक्षुं ताडयन्ननुपस्थितिः ॥

अर्थ—अन्य लिंगीको, गृहस्थोंको, स्त्रीको और बालकको चुरानेवाला तथा अपने साधर्मी ऋषिके छात्रोंको भी चुराने वाला और साधुको दंड आदिसे पीटनेवाला अनुपस्थान प्राय-श्चित्तका भागी होता है। भावार्थ—इस तरहके कर्तव्य करने वालेको अनुपस्थान प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४३ ॥

द्वादशेन जघन्येन षण्मास्या च प्रकर्षतः।
कुर्याद् द्वादश वर्षाणि गणे स्वानुपस्थितिः ॥

अर्थ— यह अनुपस्थान प्रायश्चित्तवाला मुनि अपने गणमें ही [illegible] करता है। उपवास और [illegible] कर कर पांच [illegible] रहता है। भावार्थ—[illegible] [illegible] करके पारणा करे फिर पांच उपवास करके फिर [illegible] करके पारणा करे तथा [illegible] [illegible] करके पारणा करे फिर [illegible] उपवास

श्चित्तका आचरण करता है इसलिए उसे पारंचिक कहते हैं। 'पारंची' शब्दकी व्युत्पत्ति भी ऐसी है कि "धर्मस्य पारं तीरं अंचति गच्छतीति पारंची" अर्थात् जो धर्मकी पार—तीरको पहुंच गया है वह पारंची है। अथवा-"पारं अंचति परदेशं एति गच्छतीति पारंची" अर्थात् जो गुरुद्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका आचरण करनेके लिए परदेशको जाता है वह पारंची है ॥२४६॥

आसादनं वितन्वानस्तीर्थकृत्प्रभृतेरिह।
सेवमानोऽपि दुष्टादीन् पारंचिकमुपांचति ॥

अर्थ—तीर्थंकर आदिकी आसादना करनेवाला तथा राजाके प्रतिकूल दुष्ट पुरुषोंका आश्रय लेनेवाला साधु पारंचिक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। भावार्थ-जो साधु तीर्थङ्करोंकी अवज्ञा करे और राजासे विरुद्ध उसके शत्रुओंका आश्रय लेकर रहे उसे पारंचिक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४७ ॥

आचार्यांश्च महर्द्धींश्च तीर्थकृद्गणनायकान्।
श्रुतं जैनं मतं भूयः पारं व्यासादयन् भवेत् ॥

अर्थ—आचार्य, महर्द्धिक-आचार्य, तीर्थङ्कर, गणधरदेव, जनागम और जैन-मत इन सबकी अवज्ञा करनेवाला साधु पारंचिक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ २४८ ॥

द्वादशेन जघन्येन षण्मास्या च प्रकर्षतः।
चरेद् द्वादशवर्षाणि पारंची गणवर्जितः ॥२४९॥

अर्थ—वह पारंचिक प्रायश्चित्तवाला मुनि संघसे बाहिर

अथवा यत्न्ययत्नेपु हृषीकमाणसंख्यया।
कायोत्सर्गा भवन्तीह क्षमणं द्वादशादिभिः ॥५॥

अर्थ—अथवा इस शास्त्रमें यत्नचारी और अयत्नचारी इन दोनों पुरुषोंके इंद्रियसंख्या और प्राणसंख्याके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं और बारह आदि एकेन्द्रियादि जीवोंके घातसे उपवास प्रायश्चित्त होता है। भावार्थ—यत्नचारीके इंद्रिय गणनाके अनुसार और अयत्नचारीके प्राणगणनाके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं। और बारह एकेन्द्रिय, छह दो इंद्रिय, चार तेइंद्रिय और तीन चौइंद्रियके घात करनेका प्रायश्चित्त एक एक उपवास होता है ॥ ५ ॥

षड्त्रिंशन्मिश्रभावार्कग्रहैकेपु प्रतिक्रमः।
एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकेपु सपष्ठभुक् ॥ ६ ॥

अर्थ—छत्तीस एकेंद्रियजीव, अठारह दोइंद्रिय जीव, बारह तेइंद्रियजीव, नौ चौइंद्रिय जीव, और एक पंचेन्द्रियजीवके मारनेका प्रायश्चित्त दो निरन्तर उपवास और प्रतिक्रमण है। भावार्थ—छत्तीस एकेन्द्रिय जीवोंके मारनेका प्रायश्चित्त दो [illegible] और एक प्रतिक्रमण है। इसी तरह अठारह दोइंद्रिय बारह तेइंद्रिय, नौ चाइंद्रिय और एक पंचेन्द्रियके मारनेका प्रायश्चित्त समझना चाहिए। यहां मिश्रभाव शब्दसे अठारह संख्याका ग्रहण है क्योंकि मिश्रभाव ज्ञान दर्शन आदि अठारह

अथवा यत्न्ययत्नेषु हृषीकप्राणसंख्यया ।
कायोत्सर्गा भवन्तीह क्षमणं द्वादशादिभिः ॥५॥

अर्थ—अथवा इस शास्त्रमें यत्नचारी और अयत्नचारी इन दोनों पुरुषोंके इन्द्रियसंख्या और प्राणसंख्याके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं और बारह आदि एकेन्द्रियादि जीवोंके घातसे उपवास प्रायश्चित्त होता है। भावार्थ—अयत्नचारीके इंद्रियगणनाके अनुसार और अयत्नचारीके प्राणगणनाके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं। और बारह एकेन्द्रिय, छह दो इंद्रिय, चार तेइंद्रिय और तीन चौइंद्रियके घात करनेका प्रायश्चित्त एक एक उपवास होता है ॥ ५ ॥

षड्त्रिंशन्मिश्रभावार्कग्रहैकेषु प्रतिक्रमः ।
एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकेषु सषष्ठभुक् ॥ ६ ॥

अर्थ—छत्तीस एकेंद्रियजीव, अठारह दोइंद्रिय जीव, बारह तेइंद्रियजीव, नौ चौइंद्रिय जीव, और एक पंचेन्द्रियजीवके मारनेका प्रायश्चित्त दो निरन्तर उपवास और प्रतिक्रमण है। भावार्थ—छत्तीस एकेन्द्रिय जीवोंके मारनेका प्रायश्चित्त दो उपवास और एक प्रतिक्रमण है। इसी तरह अठारह दोइंद्रिय, बारह तेइंद्रिय, नौ चौइंद्रिय और एक पंचेन्द्रियके मारनेका प्रायश्चित्त समझना चाहिए। यहां मिश्रभाव शब्दसे अठारह संख्याका ग्रहण है क्योंकि मिश्रभाव ज्ञान दर्शन आदि अठारह

हैं। तथा अर्कशब्दसे बारह और ग्रह शब्दसे नौ संख्याका ग्रहण है क्योंकि सूर्य बारह और ग्रह नौ होते हैं॥ ६॥

निष्प्रमादः प्रमादी च प्रत्येकं सस्थिरोऽस्थिरः।
मूलधार्युत्तराधारस्तस्यासंज्ञिविघातिनः॥ ७॥

अर्थ—संज्वलनकषायके तीव्रोदयको प्रमाद कहते हैं इस प्रमादसे रहितका नाम निष्प्रमाद है। और जिसके प्रमाद विद्यमान है वह प्रमादी है। निष्प्रमाद और प्रमादी दोनोंके स्थिर और अस्थिर ऐसे दो दो भेद हैं। इसप्रकार मूलगुण-धारीके निष्प्रमाद प्रमादी, स्थिर, और अस्थिर ऐसे चार भेद हैं। उत्तरगुणधारीके भी इसी तरह चार भेद हैं। इन चार चार भेदोंसे युक्त मूलगुणधारी और उत्तरगुणधारीके असंज्ञी जीवके वधका प्रायश्चित्त नीचेके श्लोक द्वारा बताते हैं॥ ७॥

उपवासास्त्रयः षष्ठं षष्ठं मासो लघुः सकृत्।
कल्याणं त्रिचतुर्थानि कल्याणं षष्ठकं क्रमात्॥

अर्थ—उपर्युक्त आठ पुरुषोंके एकवार असंज्ञि घातका प्रायश्चित्त क्रमसे तीन उपवास, दो उपवास, पुनः दो उपवास, लघुमास, कल्याण, तीन उपवास, कल्याण और षष्ठ है। भावार्थ—मूलगुणधारी स्थिर प्रयत्नचारीको एकवार असं-ज्ञीके घातका तीन उपवास, स्थिर अप्रयत्नचारीको दो उपवास, अस्थिर प्रयत्नचारीको दो उपवास, अस्थिर अप्रयत्नचारीको लघुमास--कल्याण प्रायश्चित्त और उत्तरगुणधारी स्थिर

प्रयत्नचारीको कल्याण, स्थिर अप्रयत्नचारीको तीन उपवास, अस्थिर प्रयत्नचारीको कल्याण और अस्थिर अप्रयत्नचारीको दो उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८ ॥

षष्ठं मासो लघुर्मूलं मूलच्छेदोऽसकृत्पुनः ।
उपवासास्त्रयः षष्ठं लघुमासोऽथ मासिकं ॥ ९ ॥

अर्थ—इन्हीं उपर्युक्त आठ पुरुषोंके वारवार असंज्ञी जीवके घातका प्रायश्चित्त दो उपवास, लघुमास, मासिक, मूलच्छेद, तीन उपवास, दो उपवास, लघुमास और मासिक है । भावार्थ—मूलगुणधारी प्रयत्नचारी स्थिरको वारवार असंज्ञीजीवके मारने का प्रायश्चित्त दो उपवास, अप्रयत्नचारी स्थिरको कल्याण, प्रयत्नचारी अस्थिरको पंचकल्याण, अप्रयत्नचारी अस्थिरको मूलच्छेद देना चाहिए । तथा उत्तरगुणधारी प्रयत्नचारी स्थिरको तीन उपवास, अप्रयत्नचारी स्थिरको षष्ठ—दो उपवास, प्रयत्नचारी अस्थिरको कल्याण, और अप्रयत्नचारी अस्थिरको मासिक—पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ९ ॥

एतत्सान्तरमाम्नातं संज्ञिनि स्यान्निरंतरं ।
तीव्रमंदादिकान् भावानवगम्य प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—यह ऊपर कहा हुआ प्रायश्चित्त एकवार और वारवार असंज्ञीजीवको मारनेवाले साधुके लिए सांतर माना गया है । व्याधि आदि कारणोंका समागम मिल जाने पर जो आचार्यको

अनुज्ञाके अनुसार विश्राम लेकर भी किया जाय उसे सान्तर प्रायश्चित्त कहते हैं। जो यह प्रायश्चित्त असंज्ञी जीवको मारनेवालेके लिए सान्तर कहा गया है वही प्रायश्चित्त संज्ञीजीवको मारनेवालेके लिए निरंतर कहा गया है। भावार्थ—असंज्ञी जीवको मारनेवाला उपर्युक्त प्रायश्चित्तको व्याधि आदि हो जाने पर विश्राम लेकर भी जब कभी पूरा करता है परन्तु संज्ञी जीवका वध करनेवाला विश्राम ले ले कर पूर्ण नहीं करता निरंतर—व्यवधानरहित करता है। सो यह प्रायश्चित्त जीवोंके तीव्र मंद आदि भावोंको जान कर देना चाहिए। भावार्थ—भाव नाम परिणामका है, वह तीन प्रकारका है शुभ, अशुभ और विशुद्ध। इनमें शुभ भाव पुण्यबंधका कारण है और अशुभभाव पापबंधका कारण है। द्वेषरूप परिणाम अशुभ बोला जाता है। रागरूप परिणाम शुभ भी बोला जाता है और अशुभ भी। विशुद्धभाव अनुभयात्मक है जो न द्वेषरूप है और न रागरूप है। इनमें अशुभभाव तीन तरहका है। तीव्र मंद और मध्यम। अशुभ तीव्रभाव कृष्ण लेश्या स्वरूप है। मध्यम अशुभभाव नीललेश्या स्वरूप है और मंद अशुभ भाव कापोतलेश्या स्वरूप है। शुभ भाव भी तीन तरहका है। मंद, मध्यम और तीव्र। मंद शुभ भाव तेजोलेश्यास्वरूप, मध्यम शुभभाव पद्मलेश्या स्वरूप, और तीव्र शुभ भाव शुक्ल लेश्यास्वरूप है। फिर ये तारतमिक भाव तीव्रतर तीव्रतम भेद विशेषों कर विशिष्ट हैं। ये भी प्रत्येक तीन तीन प्रकारके हैं। इस तरह ये शुभ अशुभ भाव उतने हैं...

तृणमांसात्पतत्सर्पपरिसर्पजलौकसां ।
चतुर्दशनवाद्यन्तक्षमणानि वधे छिदा ॥ १४ ॥

अर्थ—मृग, खरगोश, रोझ आदि तृणचर जीवोंके विघातका प्रायश्चित्त चौदह उपवास है। सिंह, व्याघ्र, चीता आदि मांसभक्षी जीवोंके मारनेका तेरह उपवास, तीतर, मयूर, मुर्गा, कबूतर आदि पक्षियोंके वधका बारह उपवास, सर्प गोनस आदि सर्प जातिके मारनेका ग्यारह उपवास, गोधा, सरट आदि परिसर्पोंके विनाशका दश उपवास और मकर, शिशुमार, मत्स्य, कच्छप आदि जलचर जीवोंके मारनेका प्रायश्चित्त नौ उपवास है ॥ १४ ॥

इस तरह प्रथम अहिंसाव्रतसम्बन्धी प्रायश्चित्त कथन किया आगे सत्यव्रतसंबन्धी प्रायश्चित्त बताते हैं;—

प्रत्यक्षे च परोक्षे च द्वयेऽपि च त्रिधानृते ।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युः सकृदेकैकवर्धनात् ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, परोक्ष और उभय (प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों अवस्थाओंमें) एक बार झूठ बोलने तथा मनसे, वचनसे और कायसे झूठ बोलने पर एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग, उपवास चकारसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भावार्थ—प्रत्यक्ष झूठ बोलनेका एक कायोत्सर्ग, एक उपवास और एक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। परोक्ष झूठ बोलनेका दो कायोत्सर्ग, दो उप-

वास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों हालतोंमें झूठ बोलनेका तीन कायोत्सर्ग तीन उपवास और प्रतिक्रमण है और मन, वचन, कायसे झूठ बोलनेका चार कायोत्सर्ग, चार उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है ॥१५॥

असकृन्मासिकं साधोरसद्दोषाभिलापिणः।
कपायादभियुक्तस्य परैर्वा द्विगुणादि तत् ॥१६॥

अर्थ—कषायवश बार बार झूठ बोलनेवाले साधुको पंच-कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा दूसरेसे प्रेरित होकर झूठ बोलनेवालेको पूर्वोक्त कायोत्सर्गको आदि लेकर मासिक पर्यन्त जो प्रायश्चित्त कहा गया है वह दूना तिगुना चौगुना अथवा इसमें भी अधिक गुना देना चाहिए ॥ १६ ॥

नीचः पैशून्यपुष्टस्य गच्छाद्देशाद्बहिष्कृतिः।
तद्भूत्वा मन्यमानोऽपि दोषपादांशमश्नुते ॥

अर्थ—पैशून्य भावयुक्त निकृष्ट साधुको तो गच्छसे और देशसे बाहर निकाल देना चाहिए। जो साधु इस निकृष्ट साधुके उन वचनोंको मान देता है वह भी उसके उस दोषके चतुर्थ भा-का भागी होता है ॥ १७ ॥

इस तरह सत्यव्रतके प्रायश्चित्तोंका कथन किया अब अचौर्यव्रतके प्रायश्चित्तोंका कथन करते हैं—

सकृच्छ्न्ये ममक्षं चानाभोगेऽदत्तमग्रहे।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युः [illegible] ॥

अर्थ—शून्य स्थानमें और मत्यत्नमें विना दिये हुए पदार्थके एकवार ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त पूर्ववत् एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग और उपवास है। चकारसे प्रतिक्रमण भी है। वार वार विना दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है। भावार्थ—निर्जन स्थानमें विना दिये हुए पदार्थके एकवार ग्रहण करनेका प्रतिक्रमण सहित एक कायोत्सर्ग और एक उपवास है। मिथ्यादृष्टियोंके न देखते हुए अपने साथियोंके सामने एकवार अदत्त ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण पूर्वक दो कायोत्सर्ग और दो उपवास है। अगर मिथ्यादृष्टियोंके देखते हुए एकवार अदत्त ग्रहण करे तो प्रतिक्रमण सहित तीन कायोत्सर्ग और तीन उपवास प्रायश्चित्त है तथा सोना चांदी आदि अदत्तपदार्थोंके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है इतना विशेष समझना चाहिए। वारवार अदत्त ग्रहण करनेका पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है॥ १८॥

आचार्यस्योपधेरर्हा विनेयास्तान् विना पुनः।
सधर्माणोऽथ गच्छश्च शेषसंघोऽपि च क्रमात्॥

अर्थ—आचार्यके पुस्तक आदि उपकरणोंको ग्रहण करनेके योग्य उनके शिष्य हैं। शिष्य न हों तो उनके गुरुभाई हैं। गुरुभाई भी न हों तो गच्छ है। तीन पुरुषोंके समुदायको गच्छ [illegible]। गच्छ भी न हो तो शेष संघ योग्य है। सात पुरुषोंके संघ कहते हैं॥ १९॥

सर्वे स्वामिवितीर्णस्य योग्यो ज्ञानोपधेरपि।
स्वामिना वा वितीर्यते यस्मै सोऽपि तमर्हति ॥

अर्थ—जिस उपकरणका जो स्वामी है उसके द्वारा वितीर्ण किये गये उस उपकरणको ग्रहण करनेको सभी साधु योग्य हैं चाहे वे अन्य आचार्यके भी शिष्य क्यों न हों। परन्तु ज्ञानोपधि—पुस्तकके योग्य तो वही है जो ज्ञानी है। अथवा पुस्तकका स्वामी साधु जिस साधुको वह अपनी पुस्तक दे वही उसके योग्य है ॥ २० ॥

एवं विधिं समुल्लंघ्य यः प्रवर्तेत मूढधीः।
बलवन्तं समामृत्य यो वादत्ते प्रदोपतः ॥ २१ ॥
सर्वस्वहरणं तस्य षण्मासः क्षपणं भवेत्।
योऽन्यथापि नमादत्ते तस्य तन्मौनसंयुतं ॥२२॥

अर्थ—इस उपर्युक्त व्यवस्थाका उल्लंघनकर जो मूर्ख-बुद्धि साधु मनमानी प्रवृत्ति करता है अथवा जो बलवान राजा आदिके पास जाकर द्वेषवश उपकरणको ग्रहण करता है उसके लिए उसका सर्वस्वहरण सम्पूर्ण पुस्तक आदि छीन लेना और छह मास पर्यन्त एकान्तरोपवास करना प्रायश्चित्त है। तथा जो कोई साधु और भी किन्हीं उपायोंसे उस उपकरणको ग्रहण करता है उसके लिए भी वही मौनयुक्त छह मास तक एकान्तरोपवास दंड है ॥ २१-२२ ॥

अब चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रतके विषयमें कहते हैं;—

क्रियात्रये कृते दृष्टे दुःस्वप्ने रजनीमुखे ।
सोपस्थानं चतुर्थं नियमाभुक्तिः प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—स्वाध्याय, नियम और वंदना इन तीन क्रियाको करनेके अनन्तर रात्रिके प्रथम पहरमें दुःस्वप्न देखने पर क्रमसे सप्रतिक्रमण उपवास, नियमोपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भावार्थ—जो कोई साधु रात्रिके प्रथम पहरमें स्वाध्याय, नियम प्रतिक्रमण, देववंदना इन तीनोंमेंसे कोई सी एक क्रिया कर सो जाय पश्चात् दुःस्वप्न देखे अर्थात् वीर्यपात हो जाय तो उसके लिए सप्रतिक्रमण उपवास प्रायश्चित्त है। उक्त तीनों क्रियाओंमें कोई सी दो क्रियाएं करके सोने पर दुःस्वप्न देखे तो लघु प्रतिक्रमण और उपवास प्रायश्चित्त है। यदि तीनों क्रियाएं करके सोनेपर दुःस्वप्न देखे तो केवल प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है ॥ २३ ॥

नियमक्षमणे स्यातामुपवासप्रतिक्रमौ ।
रजन्या विरहे तु स्तः क्रमात् पञ्चप्रतिक्रमौ ॥

अर्थ—रात्रिके पश्चिम पहरमें एक क्रिया करके सोनेवाले साधुको दुःस्वप्न देखने पर नियम और उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए। दो क्रियाएं करके सोए हुएको दुःस्वप्न देखने पर उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा तीनों क्रियाएं करके सोए हुएको दुःस्वप्न देखने पर प्रतिक्रमण व पञ्चकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४ ॥

मद्यमांसमधु स्वप्ने मैथुनं वा निषेवते ।
उपवासोऽस्य दातव्यः सोपस्थानश्च चेद्बहु ॥

अर्थ—यदि स्वप्नेमें मद्य, मांस, मधु और मैथुन सेवन करे तो उसको उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि बार बार सेवन करे तो प्रतिक्रमण और उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए॥

तरुण्या तरुणः कुर्यात् कथालापं सकृद्यदि ।
उपवासोऽस्य दातव्योऽसकृत् षण्मासपश्चिमः ॥

अर्थ—तरुण मुनि तरुण स्त्रीके साथ यदि एकबार वार्तालाप करे तो उसको उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा बारबार वार्तालाप करे तो छह महीने तकका एकान्तरोपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ २६॥

स्त्रीजनेन कथालापं गुरूनुल्लंघ्य कुर्वतः ।
स्यादेकादि प्रदातव्यं षष्ठं षण्मासपश्चिमं ॥२७॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुओंके मना करनेपर भी यदि स्त्री-समूहके साथ गुप्त बात करे तो उसको एक षष्ठोपवासको आदि लेकर छह मास तकके षष्ठोपवास देने चाहिए॥ २७॥

स्त्रीजनेन कथालापं गुरूनुल्लंघ्य कुर्वतः ।
त्याग एवास्य कर्तव्यो जिनशासनदूषिणः ॥

अर्थ—(अथवा) गुरुओंकी आज्ञा न मान कर स्त्रीसमूहके

नहीं रहता उसको स्वाध्याय अर्थात् अपराजित परम मंत्रका जाप और परमात्माका अध्ययनरूप प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥

अब पंचम परिग्रह त्याग व्रतके विषयमें कहते हैं—

उपधेः स्यापनालोभाद्दैन्याद्दानप्ररूढितः ।
संग्रहात् क्षमणं षष्ठमष्टमं मासमूलके ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मुनि गृहस्थोंके उपकरण अपने पास रक्खे तो उपवास प्रायश्चित्त है। सोना, चांदी आदि परिग्रहमें लोभ करे तो षष्ठोपवास प्रायश्चित्त है। मांग कर सोना, चांदी आदि परिग्रह ग्रहण करे तो अष्टम तीन उपवास प्रायश्चित्त है। प्रसिद्ध ग्रहण संक्रान्ति आदिमें सोना, चांदी आदिका संग्रह करे तो मासिक प्रायश्चित्त है और अपनी इच्छानुकूल सोना चांदी, मणि, मुक्ताफल आदि परिग्रहका संचय करे तो मूल—पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है ॥ ३२ ॥

अब रात्रिभुक्तिविरति नामके अणुव्रतके विषयमें कहा जाता है—

रात्रौ ग्लानेन भुक्ते स्यादेकस्मिंश्च चतुर्विधे ।
उपवासः प्रदातव्यः षष्ठमेव यथाक्रमं ॥ ३३ ॥

अर्थ—व्याधि विशेष, परिश्रम, नानाप्रकारके महोपवास आदिसे पीडित हुआ साधु कर्मोदय-वश मार्ग चलना कठिन मालूम पड़ने पर रात्रिमें [illegible]

के आहार ग्रहण करे तो क्रमसे उपवास और षष्ठ प्रायश्चित्त है। भावार्थ—रात्रिमें उक्त कारण वश एक प्रकारका आहार ग्रहण करे तो उपवास और चारों प्रकारका आहार ग्रहण करे तो षष्ठ प्रायश्चित्त है ॥ ३३ ॥

व्यायामगमनेऽमार्गे प्रासुकेऽप्रासुके मतेः ।
कायोत्सर्गोपवासौ स्तोऽपूर्णक्रोशे यथाक्रमम् ॥

अर्थ—व्यायामनिमित्त जन्तुरहित-प्रासुक उन्मार्ग (पगडंडी) होकर और जन्तुसहित अप्रासुक उन्मार्ग हो कर जो यति अधूरे कोशतक गमन करे तो उसके लिए क्रमसे कायोत्सर्ग और उपवास प्रायश्चित्त है। भावार्थ—प्रासुक उन्मार्ग हो कर गमन करनेका कायोत्सर्ग और अप्रासुक उन्मार्ग होकर गमन करनेका उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ३४ ॥

घननीहारतापेषु क्रोशैर्वन्हि स्वरग्रहैः ।
क्षमणं प्रासुके मार्गे द्विचतुःषड्भिरन्यथा ॥३५॥

अर्थ—वर्षाकाल, शीतकाल, और उष्णकालमें प्रासुक मार्ग होकर क्रमसे तीन कोश, छह कोश और नौ कोश गमन करे और अप्रासुक मार्ग होकर क्रमसे दो, चार, छह कोश गमन करे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है। भावार्थ—वर्षाकालमें प्रासुक मार्ग होकर तीन कोश, और अप्रासुक मार्ग होकर दो कोश, शर्दीमें प्रासुक मार्ग होकर छह कोश और और अप्रासुक मार्ग

हो कर चारकोश, गर्मीमें प्रासुक मार्ग हो कर नौ कोश भार अप्रासुक मार्ग होकर छह कोश गमन करे तो सबका प्रायश्चित्त एक एक उपवास है। यह प्रायश्चित्त दिनमें गमन करनेका है रातमें गमन करनेका आगेके श्लोकोंमें बताते हैं। यहां वन्हिसे तीन, स्वरसे छह और ग्रहसे नौ संख्याका ग्रहण है॥ १५॥

दशमादष्टमाच्छुद्धो रात्रिगामी सजन्तुके।
विजंतौ च त्रिभिः क्रोशैर्मार्गे प्रावृषि संयतः॥

अर्थ—बरसातमें अप्रासुक और प्रासुक मार्ग होकर तीन कोश रात्रिमें गमन करनेवाला संयत क्रमसे दशम—लगातार चार उपवास और अष्टम-लगातार तीन उपवास करनेसे शुद्ध होता है। भावार्थ—बरसातके दिनोंमें अप्रासुक मार्ग होकर तीन कोश रातमें गमन करनेका चार निरंतर उपवास और प्रासुक मार्ग होकर गमन करनेका तीन निरन्तर उपवास प्रायश्चित्त है॥ १६॥

हिमे क्रोशचतुष्केणाप्यष्टमं षष्ठमर्पितं।
ग्रीष्मे क्रोशेषु षट्सु स्यात् षष्ठमन्यत्र च क्षमा॥

अर्थ—शीतकालमें अप्रासुक मार्ग होकर और प्रासुक मार्ग हो कर रातमें चार कोश गमन करनेका प्रायश्चित्त क्रमसे निरन्तर तीन उपवास और निरन्तर दो उपवास है। तथा गर्मीकी मोसिममें अप्रासुक मार्ग होकर और प्रासुक मार्ग होकर छह

अर्थ—प्रायश्चित्त देनेमें कुशल आचार्य, साधुओंको और आर्यिकाओंको जलमें हो कर गमन करनेका जलकेलि महाशकि* नामका प्रायश्चित्त दे ॥ ४२ ॥

युग्यादिगमने शुद्धिं द्विगुणां पथि शुद्धितः ।
ज्ञात्वा नृजातं वाचार्यो दद्यात्तद्दोषघातिनीं ॥

अर्थ—आचार्य डोली आदिमें बैठकर गमन करने पर मंद, रोगी आदि पुरुषको जानकर उसके दोषको दूर करनेवाली, मार्गशुद्धिसे दूनी शुद्धि दे। भावार्थ—पहले जो मार्ग गमनका प्रायश्चित्त कह आये हैं उससे दूना प्रायश्चित्त डोली आदिमें बैठकर गमन करनेवाले साधुको देवे ॥ ४३ ।

सप्तपादेषु निष्पिछः कायोत्सर्गाद्विशुद्ध्यति ।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ॥ ४४ ॥

अर्थ—कोई साधु बिना पिच्छीके सात पड गमन करे तो वह एक कायोत्सर्गसे शुद्ध होता है। और एक कोश बिना पिच्छीके गमन करे तो एक उपवासको प्राप्त होता है। भावार्थ—पिच्छी हाथमें लिये बिना सात पैंड गमन करनेका एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है और एक कोश गमन करे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है। ऊपरके सूत्रमें द्विगुण पद है उसका अधिकार इस श्लोकमें भी है अतः ऐसा समझना कि कोशसे ऊपर प्रति कोश दूना दूना उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ४४ ॥

---

* महाशकिका अर्थ समझमें नहीं आया।

भाषासमितिमुन्मुच्य मौनं कलहकारिणः।
क्षमणं च गुरूद्दिष्टमपि षट्कर्मदेशिनः॥ ४५॥

अर्थ—जो मुनि भाषा समितिको छोड़कर कलह-लड़ाई करे उसको मौन प्रायश्चित्त देना चाहिए और गृहस्थोंके जिससे छह निकायके जीवोंको बाधा पहुंचे ऐसे वाणिज्य आदि छह कर्मोंका उपदेश करनेवालेके लिए उपवास प्रायश्चित्त है या जो कुछ गुरु बतावें वह प्रायश्चित्त भी उसके लिए है॥४५॥

असंयमजनज्ञातं कलहं विदधाति यः।
बहूपवाससंयुक्तं मौनं तस्य वितीर्यते॥ ४६॥

अर्थ—जो साधु, जिसे मिथ्यादृष्टि लोग जान जांय-ऐसी कलह करे तो उसको बहुतसे उपवास और मौन प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ ४६॥

कलहेन परीतापकारिणः मौनसंयुताः।
उपवासा मुनेः पंच भवन्ति नृविशेषतः॥ ४७॥

अर्थ—जो लड़ाई-झगड़ा करके संताप उत्पन्न करता हो उस मुनिको मदस्थान (रागी) आदि जानकर मौन सयुक्त पांच उपवास देने चाहिए॥ ४७॥

जनज्ञातस्य लोचस्य बहुभिः श्रमणैः सह।
आषण्मासं जघन्येन गुरूद्दिष्टं प्रकर्षतः॥ ४८॥

अर्थ—जिस कलहको सब लोग जानें उसका प्राय

लोच है और कई उपवासोंके साथ साथ कमसे कम एकोपवास-को आदि लेकर छह मास पर्यंतके उपवास और अधिकसे अधिक आचार्योपदिष्ट प्रायश्चित्त है ॥ ४८ ॥

हस्तेन हंति पादेन दंडेनाथ प्रताडयेत् ।
एकाद्यनेकधा देयं क्षमणं नृविशेषतः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो साधु हाथसे, पैरसे अथवा दंडसे मारता-पीटता है उसको मनुष्य विशेषके अनुसार एकको आदि लेकर अनेक प्रकारके उपवास देने चाहिए ॥ ४९ ॥

यश्च प्रोत्साह्यहस्तेन कलहयेत् परस्परं ।
असंभाष्योऽस्य षष्ठं स्यादाषण्मासं सुपापिनः ॥

अर्थ—जो मुनि हाथके इशारेसे उत्साह दिलाकर परस्पर में कलह कराता है वह भाषण करने योग्य नहीं है और उस पापीको छह महीने तकका षष्ठ प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ५० ॥

छिन्नापराधभापायायाप्यंमयतबोधने ।
नृत्यगायेति चालापेऽप्यष्टमं दंडनं मतं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस दोषका पहले प्रायश्चित्त किया गया है उसीको फिर करने पर, सोये हुए अविरतको जगाने पर और नाचो गाओ इत्यादि कहने पर तीन निरंतर उपवास प्रायश्चित्त माने [illegible] ॥ ५१ ॥

चतुर्वर्णापराधाभिभाषिणः स्यादवन्दनः।
असंभाष्यश्च कर्तव्यः स गणं गणिकोऽपि च॥

अर्थ—ऋषि, मुनि, यति, अनगार अथवा साधु, आर्या, श्रावक, श्राविका इनको चतुर्वर्ण कहते हैं। इस चतुर्वर्णके अपराधको कहनेवाला साधु अवंदनीय और असंभाष्य है अर्थात् उसको न तो वन्दना करना चाहिए और न उसके साथ भाषण करना चाहिए। तथा गणसे निकाल देना चाहिए। फिर यदि वह खेदखिन्न होकर इस तरह कहे कि हे भगवन्! मुझे उचित प्रायश्चित्त दीजिये तब चतुर्गण श्रमण संघके बीच उसकी शुद्धि करना चाहिए॥ ५२॥

अब एषणासमितिके दोषोंकी शुद्धि बताते हैं—

अज्ञानाद्व्याधितो दर्पात् सकृत्कंदाशनेऽसकृत्।
कायोत्सर्गः क्षमा क्षान्तिः पंचकं मासमूलके॥

अर्थ—अज्ञानवश, व्याधिवश और अहंकारवश एक बार और अनेक बार कंदादिके खानेमें क्रमसे, कायोत्सर्ग, उपवास, उपवास, कल्याणक, पंचकल्याणक और मूल प्रायश्चित्त है। भावार्थ—यहां पर कंद शब्द उपलक्षणार्थ है अथवा आदि शब्द लुप्त है इस लिए कंद, फल, बीज, मूल आदि अप्रासुक चीजोंका संग्रह है। सूरण पिंडालु रतालु आदि कंद कहे जाते हैं। आम, बिजौरा आदि वृक्षोंके फल कहते

मूंग, उड़द, राजमाष आदि चौलें बीज कही जाती हैं सोमानन ( ), वैंर्ट ( ), मूला आदिको मूल कहते हैं। अज्ञानवश अर्थात् आगमको न जानता हुआ अथवा ये चीजें अप्रासुक हैं ऐसा न जानता हुआ यदि इन कन्द मूल, फल बीज, आदिको एक बार खाय तो कायोत्सर्ग और बार बार खाय तो उपवास प्रायश्चित्त है। आगम अथवा अप्रासुक जानता हुआ भी व्याधिविशेष पीड़ित होकर एक बार खाय तो उपवास और बार बार खाय तो कल्याण प्रायश्चित्त है। और अहंकार-वश—निःशंक होकर छीनकर रसायन आदिके निमित्त एक बार खाय तो पंचकल्याण और बार बार खाय तो मूल-पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है ॥ ५३ ॥

कुड्याद्यालंब्य निष्ठ्य चतुरंगुलमंस्थितिम् ।
त्यक्त्वोक्त्वा क्षमणं ग्लाने भुक्ते षष्ठं तथा परे ॥

अर्थ—दीवाल, स्तंभ आदिका सहारा लेकर, खकार थूक कर, चार अंगुल प्रमाण पैरोंके अन्तरको त्यागकर और कुछ कह कर यदि उपवास आदिमें पीड़ित हुआ कोई मुनि भोजन करे तो उपवास प्रायश्चित्त है। और यदि उपवासादिमें पीड़ित न होकर साधारण अवस्थामें उक्त प्रकारसे भोजन करे तो षष्ठ प्रायश्चित्त है ॥ ५४ ॥

काकादिकान्तरायेऽपि भग्ने क्षमणमुच्यते ।
[illegible]ने त्यागः सर्वं भुक्तवतः क्षमा ॥५५॥

अर्थ—काक, अमेध्य, वमन, रोध, रुधिर देखना, अश्रुपात आदि जो जो मुनि भोजनके अंतराय हैं उनको न टालकर अथवा इन अंतरायोंके आजाने पर भी भोजन करे तो उपवास प्रायश्चित्त है। त्याग की हुई वस्तुको भक्षण करते हुए फिर उसका स्मरण हो जाय तो स्मरण आतेही उसको त्याग देना फिर न खाना ही प्रायश्चित्त है और यदि वह त्यागकी हुई वस्तु सबकी सब खाली गई हो तो उपवास प्रायश्चित्त है॥ ५५॥

महान्तरायसंभूतौ क्षमणेन प्रतिक्रमः।
भुज्यमाने क्षते शल्ये षष्ठनाष्टमतो मुखे॥ ५६॥

अर्थ—भारी अंतरायका संभव होने पर उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भोजन करते हुए हड्डी वगैरह दीख पड़े तो षष्ठ और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है और मुखमें हड्डी वगैरह मालूम पड़े तो तीन उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भावार्थ—भोजन करते समय हड्डी आदिसे मिला हुआ भोजन रूप भारी अंतराय आगया हो और भोजन करलेनेके अनन्तर सुननेमें आया हो तो उस अपराधका उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। भोजन करते हुए खुद अपने हाथपे हड्डी वगैरह देख ले तो षष्ठ और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है तथा भोजन करते करते अपने मुखमें हड्डी वगैरह मालूम हो तो निरंतर तीन उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। यहां पर शल्य ग्रहण उपलक्षणार्थ है इसलिए गीला चर्म, रुधिर आदि-ग्रहणका भी यही प्रायश्चित्त है॥ ५६॥

आधाकर्मणि सव्याधेर्निर्व्याधिः सकृदन्यतः।
उपवासोऽथ षष्ठं च मासिकं मूलमेव च ॥ ५७॥

अर्थ—कोई रोगी मुनि, आधाकर्मद्वारा उत्पन्न हुआ भोजन एक बार खाय तो उपवास और बार बार खाय तो षष्ठ प्रायश्चित है। तथा नीरोग मुनि आधाकर्म द्वारा उत्पन्न भोजनको एकबार खाय तो पंचकल्याण और बारबार खाय तो मूल प्रायश्चित है। जो भोजन छह निकायके जीवोंकी बाधा-हिंसासे उत्पन्न हुआ हो वह आधाकर्म द्वारा उत्पन्न हुआ भोजन कहलाता है ॥ ५७॥

स्वाध्यायसिद्धये साधुर्यद्युद्देशादि सेवते।
प्रायश्चित्तं तदा तस्य सर्वदैव प्रतिक्रमः ॥ ५८ ॥

अर्थ—स्वाध्यायसिद्धिके निमित्त यदि साधु उद्देशक आदि दोषोंसे उत्पन्न हुआ भोजन सेवन करे तो उसके लिए सर्व काल प्रतिक्रम प्रायश्चित्त है। यहां पर भी प्रतिक्रम शब्दका अर्थ नियम है ॥ ५८॥

एकं ग्रामं चरेद्भिक्षुर्गन्तुमन्यो न कल्पते।
द्वितीयं चरतो ग्रामं सोपस्थानं भवेत्क्षमा ॥५९॥

अर्थ—एक ग्राममें चर्याके लिए पर्यटन कर उसी दिन भिक्षाके लिए दूसरे ग्रामको जाना उचित नहीं है। यदि कोई ...नि एक गांवमें भोजनके लिए पर्यटन कर उसी दिन दूसरे

ग्राममें जाकर भिक्षाके लिये पर्यटन करे तो उसके लिए प्रतिक्रमण सहित उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ५९ ॥

स्वाध्यायरहिते काले ग्रामगोचरगामिनः ।
कायोत्सर्गोपवासौ हि यथाक्रममनूदितौ ॥ ६० ॥

अर्थ—जो साधु स्वाध्यायके समयमें स्वाध्याय क्रिया अथवा आगमाध्ययन न करे ग्रामान्तरको चला जाय या भिक्षाके लिए चला जाय तो उसको क्रमसे अर्थात् ग्रामान्तर गये हुएको कायोत्सर्ग और भिक्षाके लिए गये हुएको उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ६० ॥

आगे आदाननिक्षेपण समितिके विषयमें कहा जाता है:—

काष्ठादि चलयेत् स्थानात् क्षिपेद्वापि ततोऽन्यतः ।
कायोत्सर्गमवाप्नोति विचक्षुर्विषये क्षमा ॥६१॥

अर्थ—जो मुनि काष्ठ, पत्थर, तृण, खपरे आदि वस्तुओंको इनके स्थानसे हटावे—हिलावे अथवा एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानमें ले जाय तो वह एक कायोत्सर्गको प्राप्त होता है। और यदि अदेखे वैसा करे तो उपवास प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

अब पंचम प्रतिष्ठापना समिति संबंधी प्रायश्चित्त कहते हैं:—

ऊर्ध्वं हरिततृणादीनामुच्चारादिविसर्जने ।
कायोत्सर्गो भवेत्स्तोके क्षमणं बहुशोऽपि च ॥

अर्थ—सचित्त घास आदि शब्दसे बीज, अंकुर, शिला-

हिंसा, पृथ्वीविशेषके प्रति एकबार मल-मूत्र विसर्जन करनेमें कायोत्सर्ग और बार बार करनेमें उपवास प्रायश्चित्त है ॥८२॥

आगे पंचेन्द्रियनिरोधके दोषोंका प्रायश्चित्त कहते हैं—

स्पर्शादीनामनीरोधे निःप्रमादप्रमादिनाम् ।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युरेकैकपरिवर्धिताः ॥८३॥

अर्थ—स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंको अपने अपने विषयोंमें न रोकनेका अप्रमत्त और प्रमत्त पुरुषोंके लिए एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग और उपवास प्रायश्चित्त है। भावार्थ—कठोर, नर्म, भारी, हलका, ठंडा, गर्म, चिकना और रूखाके भेदसे आठ प्रकारका स्पर्श है जो स्पर्शन इन्द्रियका विषय है। चिरपरा, कडुआ, कषायला, खट्टा, मीठा और खारा ये छह रस हैं जो रसना इन्द्रियके विषय हैं। गन्ध दो प्रकारका है सुगन्ध और दुर्गन्ध, जो घ्राणइन्द्रियका विषय है। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल इस तरह छह प्रकारका रूप है जो नेत्र इन्द्रियका विषय है। तथा षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद यह छह प्रकारका शब्द है जो श्रोत्रेन्द्रियका विषय है। इन विषयोंमें पांचों इंद्रियोंको न रोकनेका इस प्रकार प्रायश्चित्त है। अप्रमत्तके लिए तो एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग है जैसे—स्पर्शन इंद्रियका एक कायोत्सर्ग, रसनाके दो, घ्राणके तीन, चक्षुके चार और श्रोत्रके पांच कायोत्सर्ग। प्रमत्तके लिए एक एक बढ़ते हुए उपवास हैं जैसे-स्पर्शन इंद्रियको

स्पर्शने विषयमें न रोकनेका एक उपवास, रसनाके दो उपवास, घ्राणके तीन उपवास, चक्षुके चार उपवास और श्रोत्रके पांच उपवास हैं ॥ ८३ ॥

आगे षडावश्यकके संबंधमें कहा जाता है;—

वंदनानियमध्वंसे कालच्छेदे विशोषणं ।
स्वाध्यायस्य चतुष्केऽपि कायोत्सर्गो विकालतः ।

अर्थ—वंदना आवश्यक और नियम आवश्यकको न करने और उनके कालको अतिक्रमण करनेका उपवास प्रायश्चित है तथा चार प्रकारके स्वाध्यायका न करने और उनके कालको अतिक्रमण करनेका कायोत्सर्ग प्रायश्चित है। भावार्थ—अर्हत प्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु और दीक्षागुरुकी स्तुति प्रणाम करना वंदना क्रिया है और दैवसिक रात्रिक आदिमें व्रतोंमें लगे हुए दोषोंका निराकरण करना नियम क्रिया है। तथा वंदनाका काल सन्ध्याकाल है और सूर्यबिंबके आधे छिप जानेमें पूर्व दैवसिक नियमका प्रारम्भ है तथा प्रभातकाल-भाग-फाटनेसे पहले रात्रि नियमकी समाप्ति है। उक्त वंदना क्रिया और नियमक्रियाके न करनेका तथा उनके उक्त कालके उल्लंघन करनेका उपवास प्रायश्चित है। तथा स्वाध्यायका काल भी दिनके समय पूर्वाह्णमें तीन घड़ी दिन चढ़ जाने पर है। अपराह्णमें तीन घड़ी दिन अवशिष्ट रह जानेमें पूर्व है। रात्रिके समय मध्यमभागमें है जो तीन घड़ी रात बीत जाने पर है और

दूसरी रात्रिके चरमभागमें है जो तीन घड़ी रात बाकी रह जाने से पहले पहले है। इस प्रकार स्वाध्यायका काल है इस कालके भेदसे स्वाध्याय भी चार प्रकारका है। इस चार-प्रकारके स्वाध्यायको न करने और उसके कालका अतिक्रमण करनेका प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग है ॥ ६४ ॥

प्रतिमासमुपोषः स्याच्चतुर्मास्यां पयोधयः।
अष्टमासेष्वथाष्टौ च द्वादशाब्दे प्रकीर्तिताः ॥६५॥

अर्थ—प्रतिमास—महीने महीनेमें एक उपवास, चार महीने बीतने पर चार उपवास, आठ महीने बीतने पर आठ उपवास बारह महीने बीतने पर बारह उपवास अवश्य करने चाहिए ॥

पक्षे मासे कृते: षष्ठं लंघने सप्रतिक्रमः।
अन्यस्या द्विगुणं देयं प्रागुक्तं निर्जरार्थिनः ॥६६॥

अर्थ—पाक्षिक क्रिया और मासिक क्रियाके उल्लंघन करने पर कर्मोंकी निर्जराके अभिलाषी साधुको प्रतिक्रमण सहित दो उपवास देने चाहिए। और चातुर्मासिक क्रिया तथा सांवत्सरिक क्रियाके अतिक्रमणका प्रायश्चित्त पूर्वोक्तसे दूना देना चाहिए अर्थात् चातुर्मासिक क्रियाके उल्लंघनका आठ उपवास और सांवत्सरिक क्रियाके उल्लंघनका चौबीस उपवास प्रतिक्रमण सहित प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ६६ ॥

आगे केशलोचके विषयमें कहते हैं—

चतुर्मासानथो वर्षं युगं लोचं विलंघयेत् ।
क्षमा षष्ठं च मासोऽपि ग्लानेऽन्यत्र निरंतरः ॥

अर्थ—लोच किये चार महीने ऊपर बिता दे तो उपवास प्रायश्चित्त, वर्ष बिता दे तो षष्ठोपवास प्रायश्चित्त और युग—पांच वर्ष बिता दे तो पञ्चकल्याण प्रायश्चित्त है। यह विधान रोग-ग्रसित मुनिके लिए है और जो नीरोग है उसके लिए निरन्तर पंचकल्याण प्रायश्चित्त है ॥ ९७ ॥

आगे अचेलव्रतमें भंग हुए अपराधका प्रायश्चित्त बताते हैं—

उपसर्गाद्रुजो हेतोर्दर्पणाच्चेलभंजने ।
क्षमण षष्ठमासौ स्तो मूलमेव ततः परं ॥ ९८ ॥

अर्थ—उपसर्गवश व्याधिवश और दर्पवश यदि अचेलव्रतका भंग करे तो क्रमसे उपवास, षष्ठोपवास और पंच कल्याण प्रायश्चित्त है। इसके ऊपर मूल प्रायश्चित्त है। भावार्थ—म्लेच्छ राजा आदि द्वारा सताये जाने पर अत्यन्त [illegible] [illegible] करे—वस्त्र पहन ले तो एक उपवास, व्याधि [illegible] कारण पहन ले तो दो उपवास [illegible] पहन ले तो पंचकल्याण प्रायश्चित्त है। इसके अनन्तर मुनि-मुद्राको [illegible] है और प्रायश्चित्त नहीं ॥ ९८ ॥

अब, अस्नान, क्षितिशयन और अदंतधावन मूलगुणोंमें भंग प्रकारोंका प्रायश्चित्त कहते हैं;

दंतकाष्ठे गृहस्थार्हशय्यासंस्नानसेवने ।
कल्याणं सकृदाख्यातं पंचकल्याणमन्यथा ॥६९॥

अर्थ—एकवार, दंतधावन करने, गृहस्थोंके योग्य शय्या-पर सोने और स्नान करनेका कल्याण प्रायश्चित्त है और बार बार इन्हीं कार्योंके करनेका पंच कल्याण प्रायश्चित्त है ॥ ६९ ॥

अब स्थिति भोजन और एक भक्तके विषयमें कहा जाता है—

अस्थित्यनेव संभुक्ते ऽदर्पे दर्पे सकृन्मुहुः ।
कल्याणं मासिकं छेदः क्रमान्मूलं प्रकाशतः ॥

अर्थ—व्याधिवश, एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका कल्याण प्रायश्चित्त और बार बार बैठकर भोजन करने, अनेक बार भोजन करनेका पंचकल्याण प्रायश्चित्त है तथा लोगोंके देखते हुए अहंकारमें चूर होकर एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका प्रव्रज्याच्छेद प्रायश्चित्त और बार बार ऐसा करनेका मूल-पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है। भावार्थ—रागवश और अहंकारवश एक बार और अनेक बार, स्थिति भोजन व्रत और एक भक्त व्रतका भंग करनेपर उक्त प्रायश्चित्त है ॥ ७० ॥

समितीन्द्रियलोचेषु भूशयेऽदंतघर्षणे ।
कायोत्सर्गः सकृद्भूयः क्षमणं मूलमन्यतः ॥

अर्थ—पांच समिति, इंद्रियनिरोध, केशलोच, भूशयन, अदंतधावन इन मूलगुणोंके एक बार भंग होनेपर कायोत्सर्ग और बार बार भंग होनेपर उपवास प्रायश्चित्त है तथा पंच महाव्रत, छह आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, स्थिति भोजन और एक भक्त इन मूलगुणोंके एक बार भंग होनेपर प्रतिक्रमण सहित उपवास और बार बार भंग होनेपर पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है। भावार्थ—व्रतोंका भंग जघन्य दर्जेसे लेकर उत्कृष्ट दर्जेतक अनेक प्रकारका है-जैसे जैसे अधिक दोष संभव हो वैसे वैसे बढ़ता हुआ प्रायश्चित्त है। जैसे समिति आदि प्रत्येक व्रतोंका अति-स्तोक भंग होनेपर मिथ्याकार, उससे अधिक भंग होनेपर आत्मनिन्दा, उससे भी अधिक भंग होनेपर गर्हा उससे भी अधिक भंग होने पर आलोचना, उससे भी अधिक भंग होनेपर लघुकायोत्सर्ग, उससे भी अधिक भंग होनेपर मध्यम कायोत्सर्ग उससे भी अधिक भंग होने पर बढ़ते बढ़ते एक सौ आठ उच्छ्वास प्रमाण महाकायोत्सर्ग पर्यंत प्रायश्चित्त है। यह एक बार भंग होनेका प्रायश्चित्त है। बार बार भंग-विशेष होनेका पुरुमंडल निर्विकृति एकस्थान और आचाम्ल प्रायश्चित्त वहां तक है जहां सर्वोत्कृष्ट भंग होने पर प्रतिक्रमण सहित उपवास प्रायश्चित्त है। तथा अहिंसादि व्रतोंका एक बार भंग होनेपर प्रतिक्रमण सहित उपवास प्रायश्चित्त है और बार बार भंग होनेपर वही प्रायश्चित्त अहंकार युक्त, अभयन्तचारी, अस्थिर आदि पुरुषविशेषके अपेक्षासे बढ़ता हुआ पष्ठोपवास

अष्टम (तीन उपवास) दशम (चार उपवास) द्वादश (पांच उपवास) अर्धमासोपवास, मासोपवास, पक्षमासोपवास, संवत्सरोपवास आदि हैं उसके अनन्तर दिवसादिकके क्रमसे दीक्षाच्छेद है उसके अनन्तर सर्वोत्कृष्ट मूलप्रायश्चित्त है ॥७१॥

इस प्रकार मूलगुणोंमें संभव दोषोंका प्रायश्चित्त कहा गया अब उत्तर गुणोंमें संभव दोषोंका प्रायश्चित्त बताते हैं;—

द्रुमूलातोरणौ स्थास्नू आतापस्तद्द्वयात्मकः ।
चलयोगा भवंत्यन्ये योगाः सर्वेऽथवा स्थिराः ॥

अर्थ—वृक्षमूल और अतोरण ये दो योग स्थिर योग हैं। आतापन योग चल और स्थिर दोनों तरहका है। और शेष अभ्रावकाश, स्थान, मौन और वीरासन ये चार योग चल योग हैं। अथवा सभी योग स्थिर योग हैं ॥ ७२ ॥

भंजने स्थिरयोगानामपस्कारादिकारणात (?) ।
दिनमानोपवासाः स्युरन्येषामुपवासना ॥७३॥

अर्थ—नेत्र दर्द, पेट दर्द, शिरः शूल, विशूचिका, सर्वोपसर्ग रोग, पक्षाघात आदि कारणोंमें स्थिर योगोंका भंग हो जाय तो योग पूर्तिके जितने दिन अवशिष्ट रह गये हों उतने उपवास प्रायश्चित्त है। तथा अन्य स्थान, मौन, अवग्रह आदि योगोंका भंग होनेपर आलोचनाको आदि लेकर प्रतिक्रमण सहित उपवास पर्यन्त प्रायश्चित्त है ॥ ७३ ॥

तत्प्रतिष्ठा च कर्तव्याभावकाशे पुनर्भवेत्।
चतुर्विधं तपश्चापि पंचकल्याणमान्तिमं ॥ ७४ ॥

अर्थ—उन स्थान, मौन अवग्रह आदि योगोंकी पुनर्व्यवस्थापना भी करना चाहिए अर्थात् प्रायश्चित्त देकर फिर भी उन्हीं योगोंमें स्थापित करना चाहिए। तथा अज्ञानतासे योग के भंग होनेपर आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय और स्थानविवेक और गणविवेक एवं दोनों तरहका विवेक प्रायश्चित्त है। और पुरुमंडल, निर्विकृति, एकस्थान, आचाम्ल, उपवास, कल्याण, बेला, तेला, चौला, पचौलाको आदि लेकर अंतिम पंच कल्याण पर्यंतका तप प्रायश्चित्त भी है ॥ ७४ ॥

सकृदप्रासुकासेवेऽसकृन्मोहादहंकृतेः।
क्षमणं पंचकं मासः सोपस्थानं च मूलकं ॥

अर्थ—अज्ञानवश त्रस स्थावर आदि जीवोंसे व्याप्त वसतिका आदि प्रदेशोंमें एक बार निवास करने पर उपवास और बार बार निवास करने पर कल्याण प्रायश्चित्त है। तथा अहंकार वश एक बार निवास करनेपर प्रतिक्रमण और पंचकल्याण प्रायश्चित्त और बार बार निवास करने पर मूलप्रायश्चित्त है ॥

आमादीनामजानानो यः कुर्यादुपदेशनं।
जानन् धर्माय कल्याणं मासिकं मूलगः स्मये ॥

अथ—जो मुनि, ग्राम, पुर, घर, वसति आदिके बनवानेमें

दोषोंको न जानता हुआ उनके बनानेका उपदेश करता है वह कल्याण प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। दोषोंको जानता हुआ उनके आरंभका उपदेश करता है वह पंचकल्याण प्रायश्चित्तका भागी है तथा गर्व-अहंकारमें चूर होकर जो प्राय आदिका उपदेश करता है वह मूल प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

आलोचना तनूत्सर्गः पूजोद्देशेऽप्रबोधने ।
सोपस्थाना सकृद्देया क्षमा कल्याणकं मुहुः ॥

अर्थ—पूजा संबंधी आरंभके दोषोंको न जाननेवाले मुनिको एकवार पूजाका उपदेश देने पर आरंभका परिमाण जान कर आलोचना अथवा कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण सहित उपवास पर्यंत दे तथा बार बार पूजोपदेश दे तो कल्याणक प्रायश्चित्त दे। भावार्थ—जो मुनि पूजाके आरंभमें उत्पन्न होनेवाले दोषोंको नहीं जानता है वह यदि एकवार गृहस्थोंमें पूजाका आरंभ करावे तो उसे आरंभके अनुसार आलोचना अथवा कायोत्सर्ग प्रायश्चित्तको आदि लेकर उपवास पर्यंत प्रायश्चित्त दे और बारबार आरंभ करावे तो कल्याणक प्रायश्चित्त दे ॥

जाननस्यापि संशुद्धिः सकृच्चासकृदेव च ।
सोपस्थानं हि कल्याणं मासिकं मूलमावधे ॥

अर्थ—जो मुनि पूजारम्भसे जन्य दोषोंको जानता हो वह यदि पूजाके आरम्भका एक बार उपदेश दे तो उसके इस अप-

रायकी शुद्धि प्रतिक्रमण सहित कल्याण है और बारबार उप-देश दे तो उसकी मासिक-पंचकल्याण शुद्धि है तथा जिस पूजो-पदेशके देनेसे छह निकायके जीवोंका वध होता हो तो उसका प्रायश्चित्त पुनर्दीक्षा है ॥ ७८ ॥

सल्लेखनेतरे ग्लाने सोपस्थाना विशोषणा ।
अनाभोगेऽथ साभोगे भुक्ते मासिकं स्मृतं ॥

अर्थ—क्षुधा और तृषा परीषहसे पीड़ित हुआ सल्लेखना करनेवाला मुनि तथा अष्टोपवास, पक्षोपवास, मासोपवास आदि उपवासों द्वारा पीड़ित हुआ सल्लेखना न करनेवाला मुनि यदि लोगोंके नहीं देखते हुए भोजन कर ले तो उन दोनोंके लिए उस दोषका प्रायश्चित्त प्रतिक्रमणसहित उपवास कहा गया है और जो उक्त दोनों प्रकारके ग्लान मुनि लोगोंके देखते हुए भोजन कर ले तो उनके लिए पंचकल्याण प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ७९ ॥

स्यात्समम्यस्त्वगणभ्रष्टैर्विहारे मासिकं क्षमा ।
जिनादीनामवर्णादौ सोपस्थानांगमस्कृति (?) ॥

अर्थ—स्वगणस्थ भ्रष्ट अर्थात् शिथिलाचारी पुरुषके साथ और परगण भ्रष्ट अर्थात् [illegible] पाया, साथ अविनय सबकी निंदा करना आदि दोषोंसे दूषित अथवा पुरुषोंके साथ विहार करने पर अथवा शिथिलाचारी और अथवा

पुरुषोंकी संगति करने पर पंचकल्याणक प्रायश्चित्त दे और अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुमें अवर्णवाद लगाने पर प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग सहित उपवास प्रायश्चित्त दे ॥ ८० ॥

निमित्तादिकसेवायां सोपस्थानोपवासनं ।
सूत्रार्थाविनयाद्येष्वंगोत्सर्गालोचने स्मृते ॥८१॥

अर्थ—व्यंजन, अङ्ग, स्वर, छिन्न, भौम, अंतरिक्ष, लक्षण, स्वप्न इन आठ निमित्तों द्वारा आदि शब्दसे, वैद्यकविद्या और मंत्रों द्वारा आजीविका करने पर प्रतिक्रमण और उपवास प्रायश्चित्त है। तथा सूत्र (शास्त्र) और अर्थका अविनय, निन्हव आदि करने पर कायोत्सर्ग और आलोचना ये दो प्रायश्चित्त माने गये हैं ॥ ८१ ॥

सूत्रार्थदर्शने शैक्ष्येऽसमाधानं वितन्वतः ।
चतुर्थं निन्हवेऽप्येवमाचार्यस्यागमस्य च ॥ ८२ ॥

अर्थ—सूत्र और अर्थका उपदेश करते समय श्रोताओंका समाधान न कर सके तो उसका उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा आचार्य और आगमका निन्हव करने पर भी उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८२ ॥

संस्तरशोधने देयं कायोत्सर्गविशोषणे।
शुद्धेऽशुद्धं क्षमा पंचाहोऽप्रमादप्रमादिनोः ॥

अर्थ—जीव-जन्तु रहित प्रदेशमें संथारेको न शोधकर सोये हुए अप्रमत्त मुनिको कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त और प्रमत्त मुनिको उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा जीव-जन्तुओंसे युक्त प्रदेशमें संथारेको न शोधकर सोये हुए अप्रमत्त मुनिको उपवास और प्रमत्तको कल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ ८३॥

लोहोपकरणे नष्टे स्यात् क्षमांगुलमानतः।
केचिद्घनांगुलैरूचुः कायोत्सर्गः परोपधौ ॥८४॥

अर्थ—सूई, नहनी, छुरा आदि लोहकी चीजें नष्ट कर देने पर जितनी अंगुलकी वे चीजें हों उतने उपवास प्रायश्चित्तमें देने चाहिए। कोई कोई आचार्य घनांगुलके हिसाबसे उक्त चीजोंके नाशका प्रायश्चित्त बताते हैं अर्थात् वे कहते हैं कि उस नाश किये गये लोहोपकरणके जितने घनांगुल हों उतने उपवास प्रायश्चित्तमें देने चाहिए। तथा संथारा, पिच्छी, कमंडलु आदि दूसरेकी चीजें नाश कर देने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त देना चाहिए॥ ८४॥

रूपाभिधानने चित्तदूषणे ननुसर्जनं।
स्वाध्यायस्य क्रियाहानावेवमेव निरुच्यते ॥८५॥

अर्थ—भित्ति कागज आदि पर लिखित मनुष्य आदिके प्रतिबिंबोंका नाश करने पर, विषयाभिलाष आदि दुष्ट परिणामोंके करने पर, और स्वाध्याय क्रियाकी ... ...
कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त कहा गया है॥ ८५॥

योऽप्रियंकरणं कुर्यादनुमोदेत चाथवा ।
दूरस्थोऽसौ जिनाज्ञायाः षष्ठं सोपस्थितिं व्रजेत् ॥

अर्थ—जो साधु अप्रियकरण—स्वाध्याय, नियम, वन्दना आदि क्रियाओंमें कमी करता है अथवा उसकी अनुमोदना करता है वह जिन भगवान्की आज्ञासे बहिर्भूत है और प्रतिक्रमण सहित षष्ठ प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

तृणकाष्ठकवाटानामुद्घाटनविघट्टने ।
चातुर्मास्याश्चतुर्थं स्यात् सोपस्थानमवस्थितं ॥

अर्थ—तृण और काष्ठके बने हुए कपाट आदि चीजोंके खोलने और बंद करनेका चार मासके अनन्तर प्रतिक्रमण सहित उपवास प्रायश्चित्त निश्चित है ॥ ८७ ॥

शश्वद्विशोधयेत् साधुः पक्षे पक्षे कमंडलुं ।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनं ॥ ८८ ॥

अर्थ—साधु पन्द्रह पंद्रह दिनके बाद सम्मूर्च्छन जीवोंके निराकरणके अर्थ कमण्डलुको भीतरसे धोवे-साफ करे। जो साधु उस कमण्डलुको पद्रह पद्रह दिन बाद न धोवे तो उसको प्रतिक्रमण और उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८८ ॥

मुखं क्षालयतो भिक्षोरुदबिंदुर्विशेन्मुखे ।
आलोचना तनूत्सर्गः सोपस्थानोपवासनं ॥८९॥

उसके लिए क्रमसे उपवास और आलोचना ये दो प्रायश्चित्त माने गये हैं। भावार्थ - शिला पृथिवी आदि पर लिखकर शास्त्र पढ़े तो उपवास प्रायश्चित्त और उदर, जांघ, घुटना, भुजा आदि पर लिखकर आगमका अध्ययन करे तो आलोचना प्रायश्चित्त माना गया है ॥ ९२ ॥

जातिवर्णकुलोनेषु भुंक्तेऽजानन् प्रमादतः ।
सोपस्थानं चतुर्थं स्यान्मानोऽनाभोगतो मुहुः ॥

अर्थ—माताकी वंश परम्परा जाति और पिताकी वंश परम्पराको कुल कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। वेश्या आदि जाति और कुलसे रहित हैं क्योंकि उनके माता-पिताकी वंश परम्पराका कोई निश्चय नहीं है। ब्राह्मणीमें क्षत्रियसे पैदा हुआ सूत, ब्राह्मणीमें वैश्यसे उत्पन्न हुआ वैदेहिक आदि वर्णरहित हैं। यदि कोई मुनि स्वयं न जानता हुआ इन जाति, वर्ण और कुलसे रहित पुरुषोंके घरपर औरोंके न देखते हुए एकबार भोजन करे तो उसके लिए प्रतिक्रमण-पूर्वक उपवास और वारंवार भोजन करे तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ९३ ॥

जातिवर्णकुलोनेषु भुंजानोऽपि मुहुर्मुहुः ।
साभोगेन मुनिर्नूनं मूलभूमिं समश्नुते ॥ ९४ ॥

अर्थ—जिनकी जाति, वर्ण और कुल उक्त प्रकारसे निंद्य हैं

उनके घर घर भौरोंके देखते हुए बारबार भोजन करनेवाला मुनि निश्चयसे पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥

चतुर्विधमयाहारं देयं यः प्रतिषेधयेत् ।
प्रमादादृष्टभावाच्च क्षमोपस्थानमासिके ॥९५॥

अर्थ—जो मुनि, देनेयोग्य, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारके आहारको भूलसे निषेध करे तो उसके लिए उपवास प्रायश्चित्त और दुष्ट परता निषेध करे तो प्रतिक्रमणपूर्वक पंचकल्याण प्रायश्चित्त है ॥ ९५ ॥

ज्ञानोपध्योषधं वाथ देयं यः प्रतिषेधयेत् ।
प्रमादेनापि मासः स्यात् साध्वावासमथो मुहुः ॥

अर्थ—जो कोई मुनि, ज्ञानोपकरण पुस्तक अथवा औषध जो कि देनेयोग्य है उनका एक बार भी निषेध करे तो उसके लिए पंचकल्याण प्रायश्चित्त है और यदि साधुओंको देने योग्य वसति आदिका भी निषेध करे तो यही प्रायश्चित्त है ॥

चतुर्विधं कदाहारं तैलाम्लादि न वल्भते ।
आलोचना तनूत्सर्ग उपवासोऽस्य दण्डनं ॥ ९७॥

अर्थ—जो ग्यारह आदि कारणोंके बिना भी देनेयोग्य चार प्रकारके कुत्सित आहारको अथवा तेल कांजिक आदिको नहीं खाता है उसके लिए आलोचना कायोत्सर्ग और उपवास ये प्रायश्चित्त है ॥ ९७ ॥

वैयावृत्यानुमोदेऽपि तद्द्रव्यस्थापनादिके ।
पथ्यस्यानयने सम्यक् सप्ताहादुपसंस्थितिः ॥

अर्थ— शरीरका आहार औषध आदिके द्वारा उपकार करनारूप वैयावृत्यकी मंद ग्लान आदि कारणोंको लेकर अनुमोदन करने पर, वैयावृत्य संबन्धी भाजनोंको रखना, धोना, बांधना आदि क्रिया करने पर तथा रोगी मुनिके लिए प्रयत्नपूर्वक योग्य आहारविशेष लाने पर सप्त दिनके अनन्तर प्रतिक्रमणपूर्वक उपवास प्रायश्चित्त है। उपवास यद्यपि श्लोकमें नहीं कहा गया है तो भी उसका ग्रहण है क्योंकि प्रतिक्रमण उपवासके विना नहीं होता ॥ ९८ ॥

स्वच्छंदशयनाहारः प्रमाद्यन् करणे व्रते ।
द्वयोरप्यविशुद्धित्वाद्धारणीयस्त्रिरात्रतः ॥ ९९ ॥

अर्थ—अपनी इच्छानुसार सोनेवाला और आहार करनेवाला, तथा पांच नमस्कार क्रिया छह आवश्यक क्रिया, आसेधिका और निषेधिका एवं तेरह क्रिया और पांचमहाव्रतोंमें अनादर करनेवाला ये दोनों—इच्छानुकूल करनेवाले और अनादर करनेवाले दोषी हैं इसकारण तीन दिन देखकर बाद निषेध कर देना योग्य है ॥ ९९ ॥

भूमिमृज्जलनः शौचं यो वा साधुः समाचरेत् ।
[illegible] वस्तिवर्ण्यादिकेष्वपि ॥

अर्थ—जो साधु मधुर पित्त और जलसे शौच करता है

उसके लिए प्रतिक्रमणसहित उपवास प्रायश्चित्त है और वमन विरेचन आदि चिकित्सा करने पर भी यही प्रायश्चित्त है ॥१००॥

चंडालसंकरे स्पृष्टे पृष्टे देहेऽपि मासिकं ।
तदेव द्विगुणं भुक्ते सोपस्थानं निगद्यते ॥१०१॥

अर्थ—चांडाल आदिसे मिलने पर तथा उनसे परस्पर देह भिड़ने पर भी पंचकल्याण प्रायश्चित्त है। तथा बिना जाने चांडाल आदिके हाथसे दिया हुआ भोजन लेने पर अथवा चांडालोंको देख लेने पर भी भोजन करने पर वही पूर्वोक्त प्रायश्चित्त प्रतिक्रमणसहित दूना कहा गया है अर्थात् प्रतिक्रमण सहित दो पंच कल्याणक प्रायश्चित्त हैं ॥ १०१ ॥

असंतं वाथ संतं वा छायाघातमवाप्नुयात् ।
यत्र देशे स मोक्तव्यः प्रायश्चित्तं भवेदपि ॥

अर्थ—जिस देशमें अवास्तविक अथवा वास्तविक अपमानको प्राप्त हो वह देश छोड़ देना चाहिए, यही प्रायश्चित्त है। भावार्थ—जिस देशमें अपमान हो वह अपमान चाहे तो गरठीक हो या ठीक हो अत उस देशको छोड़ देना ही उसका प्रायश्चित्त है ॥ १०२ ॥

दोषानालोचितान् पापो यः साधुः सम्प्रकाशयेत् ।
मासिकं तस्य दातव्य निश्चयोऽदण्डन ॥१०३॥

अर्थ—जो पापात्मा साधु गुरुसे निवेदन किए दोषोंका

अन्यके प्रति प्रकट करता है उसे मासिक-पंचकल्याण प्राय-श्चित्त देना चाहिए ॥ १०३ ॥

स्वकं गच्छं विनिर्मुच्य परं गच्छमुपाददत् ।
अर्धनासौ समाछेद्यः प्रव्रज्याया विशंसयं ॥१०४॥

अर्थ—जो साधु जिस गच्छमें कि उसने दीक्षा ली है वह यदि अपने उस गच्छको छोड़ कर दूसरे गच्छमें चला जाय तो उसकी निःसंदेह आधी दीक्षा छेद देनी चाहिए ॥ १०४ ॥

यः परेषां समादत्ते शिष्यं सम्यक्प्रतिष्ठितं ।
मासिकं तस्य दातव्यं मार्गमूढस्य दंडनं ॥१०५॥

अर्थ—जो आचार्य, अच्छी तरहसे रत्नत्रयमें व्यवस्थित किये गये अन्य आचार्यके शिष्यको स्वीकार करता है उस मार्ग-मूढ़ (व्यवस्था न जानने वाले) परशिष्यग्राहीको मासिक-पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ १०५ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्या योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे ।
कुलहीने न दीक्षाऽस्ति जिनेन्द्रोद्दिष्टशासने ॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही सर्वज्ञ दीक्षा अर्थात् निर्ग्रन्थ लिंगको धारण करनेके योग्य हैं। इन तीनोंसे भिन्न शूद्र आदि कुलहीन हैं अतः उनके लिए जिनशासनमें निर्ग्रन्थ (नग्न) लिंग नहीं है—वे निर्ग्रन्थ लिंगको धारण करनेके योग्य नहीं हैं। तदुक्तं—

त्रिषु वर्णेष्वेकतमः कल्याणांगः तपःसहो वयसा ।
सुमुखः कुत्सारहितः दीक्षाग्रहणे पुमान् योग्यः ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंमेंसे कोईसा भी एक मोक्षका अधिकारी है, वही वयके अनुसार तपश्चरण करने वाला सुन्दर और ग्लानिरहित दीक्षा ग्रहणके योग्य है ॥ १०६ ॥

न्यक्कुलानामचेलैकदीक्षादायी दिगम्बरः ।
जिनाज्ञाकोपनोऽनन्तसंसारः समुदाहृतः ।१०७।

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीनों वर्णोंसे बहिर्भूत नीच कुली—शूद्र आदिको सम्पूर्ण जगतमें मयानभूत निग्रन्थ-दीक्षा देनेवाला दिगम्बर साधु सर्वज्ञके वचनोंके प्रति-कूल है और अनन्तसंसारी है ॥ १०७ ॥

दीक्षां नीचकुलं जानन् गौरवाच्छिष्यमोहतः ।
यो ददात्यथ गृह्णाति धर्मोद्दाहो द्वयोरपि ॥

अर्थ—जो आचार्य, नीचकुल वाला जानकर भी उस नीच कुलीको ऋद्धिके गर्वसे अथवा-शिष्य बनानेकी अभिलाषासे दीक्षा देता है और जो नीचकुली निग्रंथ दीक्षा लेता है उन दोनोंहीका धर्म दूषित है ॥ १०८ ॥

अजानाने न दोषोऽस्ति ज्ञाते सति विवर्जयेत्
आचार्योऽपि स मोक्तव्यः साधुवर्गैरतोऽन्यथा

अर्थ—जो कोई आचार्य नीच कुलीको नीच कुली न

कर दीक्षा देदे तो दोष नहीं परंतु जान लेने पर उसे छोड़ देना चाहिए यदि वह आचार्य उस नीच कुलीको न छोड़े तो अन्य साधुओंको चाहिए कि वे उस नीच कुलीको दीक्षा देनेवाले आचार्यको भी छोड़ दें ॥ १०६॥

शिष्ये तस्मिन् परित्यक्ते देयो मासोऽस्य दंडनं ।
चांडालभोज्यकारूणां दीक्षणे द्विगुणं च तत् ॥

अर्थ—उस अकुलीन शिष्यके छोड़ देने पर इस आचार्य-को पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा भंगी चमार आदिको और अभोज्य कारुओं—धोबी, बढ़ई, कलाल आदि को दीक्षा देने पर वह पूर्वोक्त पंचकल्याण प्रायश्चित्त दूना देना चाहिए ॥ ११० ॥

अनाभोगेन चेत्सूरिर्दोषमाप्नोति कुत्रचित् ।
अनाभोगेन तच्छेदो वैपरीत्याद्विपर्ययः ॥ १११॥

अर्थ—यदि आचार्य कहीं भी अप्रकाश रूपसे दोषको प्राप्त हो तो उसको अप्रकाशरूपसे ही प्रायश्चित्त देना चाहिए और यदि प्रकाशरूपसे दोषको प्राप्त हो तो उसको प्रकाशरूपसे ही प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ १११ ॥

क्षुल्लकानां च शेषाणां लिंगप्रभ्रंशने सति ।
तत्सकाशे पुनर्दीक्षा मूलात्पापंडिचेलिनाम् ॥

अर्थ—क्षुल्लक-सर्वोत्कृष्ट श्रावकोंको भी किसी कारणवश उनकी दीक्षाका भंग हो जाने पर जिसके पास पहले दीक्षा ली

हो उसीके पास फिर भी दीक्षा लेना चाहिए, अन्य आचार्यके पास नहीं। निर्ग्रन्थ लिंगसे रहित अन्यलिंगी, मिथ्यादृष्टि गृहस्थ और श्रावक इनको मूल (मार्गम) से ही दीक्षा है अतः ये बादे यहां दीक्षा ले सकते हैं ॥ ११२ ॥

कुलीनक्षुल्लकेष्वेव सदा देयं महाव्रतं ।
सल्लेखनोपरूढेषु गणेंद्रेण गणेच्छुना ॥ ११३ ॥

अर्थ—सज्जाति विवाहिता ब्राह्मणीमें ब्राह्मणसे, क्षत्रियाणीमें क्षत्रियसे और वैश्य स्त्रीमें वैश्यसे उत्पन्न हुए पुरुषके हो मातृपक्ष और पितृपक्ष ये दोनोंकुल विशुद्ध हैं अतः इन विशुद्ध उभय कुलोंमें उत्पन्न हुआ क्षुल्लक जिसने किसीयोग आदि कारणोंके वश क्षुल्लक व्रत धारण कर रक्खा हो वह समाधिमरण करनेमें तत्पर हो तब उसे निग्रंथ दीक्षा देना चाहिए। परंतु जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके विशुद्ध उभयकुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है उस क्षुल्लकको कभी भी निर्ग्रन्थ दीक्षा नहीं देना चाहिए ॥ ११३ ॥

इस तरह ऋषि प्रायश्चित्त पूर्ण हुआ अब आर्यिकाओंका प्रायश्चित्त बताते हैं; -

साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च ।
दिनस्थानत्रिकालोनं प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥

अर्थ—जैसा प्रायश्चित्त साधुओंके लिए कहा गया है वैसा ही आर्यिकाओंके लिए कहा गया है, विशेष इतना है कि दिन-

प्रतिमा, त्रिकालयोग चकारसे अथवा ग्रन्थान्तरोंके अनुसार पर्यायच्छेद, मूलस्थान, तथा परिहार ये प्रायश्चित्त भी आर्यिकाओंके लिए नहीं हैं ॥ ११४ ॥

समाचारसमुद्दिष्टविशेषभ्रंशने पुनः ।
स्थैर्यास्थैर्यप्रमादेषु दर्पतः सकृन्मुहुः ॥ ११५ ॥

अर्थ—विना प्रयोजन पर घर जाना, अपने स्थानमें या पर स्थानमें रोना, बालकोंको स्नान कराना, उन्हें भोजन-पान कराना, भोजन बनाना, छह प्रकारका आरंभ करना आदि जो विशेष कथन समाचार क्रियामें आर्यिकाओंके लिए किया गया है उसका स्थिर, अस्थिर, प्रमाद और अहंकारवश एक बार और बहु बार भंग करने पर नीचे लिखा प्रायश्चित्त है। भावार्थ—स्थिर और अस्थिर आर्यिकाओंके प्रमादवश और अहंकारवश एक बार और बार बार समाचार क्रियामें दोष लगने पर क्रमसे नीचे लिखा प्रायश्चित्त है ॥ ११५ ॥

कायोत्सर्गः क्षमा क्षांतिः पंचकं पंचकं क्रमात् ।
षष्ठं षष्ठं ततो मूलं देयं दक्षगणेशिना ॥ ११६ ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त देनेमें चतुर आचार्य, स्थिर आर्यिकाको प्रमादवश एक बार समाचार क्रियामें दोष लगाने पर कायोत्सर्ग और बार बार दोष लगाने पर उपवास प्रायश्चित्त दे, दर्पवश एक बार दोष लगाने पर उपवास और बार बार दोष लगाने पर कल्याण प्रायश्चित्त दे, और अस्थिर आर्यिकाको

वस्त्रस्य क्षालने धाते त्रिशोपस्तनुसर्जनं ।
प्रासुकतोयेन पात्रस्य धावने प्रणिगद्यते ॥११८॥

अर्थ—वस्त्रके धोनेमें जलकायके जीवोंकी विराधना होने पर एक उपवास और प्रासुक जलमें भिक्षाके पात्रोंको धोनेका एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥ ११८ ॥

वस्त्रयुग्मं सुबीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च ।
आर्याणां संकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते ॥११९॥

अर्थ—आर्यिकाओंको गुप्त अंगको ढकनेके लिए दो वस्त्र रखना चाहिए। इन दो वस्त्रोंके अलावा तीसरा वस्त्र धारण करने पर उसके लिए पंचकल्याण प्रायश्चित्त कहा गया है ॥

याचितायाचितं वस्त्रं भैक्ष्यं च न निषिद्ध्यते ।
दोषाकीर्णतयार्याणामप्रासुकविवर्जितं ॥१२०॥

अर्थ—आर्यिकाएं हमेशह अनेक दोषोंसे लिप्त रहती ही हैं इस कारण मांगनेसे प्राप्त हुआ किंवा विना ही मांगे स्वयमेव प्राप्त हुए निर्दोष वस्त्रोंको और भिक्षा-पात्रोंको पास रखनेका अथवा स्वस्थान पर भिक्षा लानेका उनके लिए निषेध नहीं है ॥

तरुणी तरुणेनामा शयनं गमनं स्थितिं ।
विदधाति ध्रुवं तस्याः क्षमाणां त्रिंशदुदाहृता ॥

तारुण्यं च पुनः स्त्रीणां षष्टिवर्षाण्यनूदितं।
तावंतमपि ताः कालं रक्षणीयाः प्रयत्नतः ॥

अर्थ—स्त्रियोंकी यौवनावस्था साठ वर्ष तक की कही गई है इसलिए साठ वर्ष तक प्रयत्नपूर्वक आर्यिकाओंको रक्षा करना चाहिए॥ १२२॥

दर्पेण संयुताथार्या विधत्ते दंतधावनं।
रसानां स्यात् परित्यागश्चतुर्मासानसंशयं ॥

अर्थ—यदि जो कोई भी आर्यिका अहंकारके वशीभूत होकर दंतधावन करे तो उसके लिए चार महीने तक रसोंका परित्याग प्रायश्चित्त है॥ १२३॥

अब्रह्मसंयुता क्षिप्रमपनेयापि देशतः।
सा विशुद्धेर्बहिर्भूता कुलधर्मविनाशिका ॥

अर्थ—अब्रह्माचरण कर संयुक्त आर्यिकाको शीघ्रही देशसे बाहर निकाल देना चाहिए। ऐसी आर्यिका प्रायश्चित्तसे रहित है अर्थात् उसके लिए कोई भी शुद्धिका उपाय नहीं है और वह गुरुकुल तथा जिनशासनका विनाश करनेवाली है॥ १२४॥

तद्दोषभेदवादोऽपि पंडितानां न कल्पते।
अन्योक्तं लक्षणीयं न तत्प्रहेयं प्रयत्नतः ॥१२५॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको चाहिए कि वे पूर्वोक्त सपक्षसबधी दोषोंको किसीके सामने न कहे और दूसरे लोग कह दे

हों तो उसपर लक्ष्य न दें। तथा ऐसे दोषोंके कहनेका प्रयत्न-पूर्वक त्याग करें॥ १२५॥

यतिरूपेण वान्यासा चेदार्यानामधारिका ।
हा ! हा ! कष्टं महापापं न श्रोतुमपि युज्यते ॥

अर्थ—आर्या नामधरानेवाली स्त्री यदि यति नाम धरानेवाले पुरुषके साथ बदनामको प्राप्त हो जाय तो उन दोनोंको धिक्कार है, उनका यह कर्तव्य अत्यंत निकृष्ट है और महापाप है इसलिए इस पापको औरोंसे कहना और पूछना तो दूर रहो कानोंसे सुनना भी नहीं चाहिए॥ १२६॥

उभयोरपि नो नाम ग्राह्यं विमीचकर्मणोः ।
अन्यश्चेत्कोऽपि तद् ब्रूयात् पिधातव्ये ततः श्रुती॥

अर्थ—निकृष्ट नीचकर्म करनेवाले उन दोनों लिंगधारियों-का नाम भी नहीं लेना चाहिए। यदि कोई दूसरा उन दोनोंके उक्त दूषणको कह रहा हो तो अपने कान मूंद लेना चाहिए॥

स नीचोऽप्यश्नुते शुद्धिं शुद्धबुद्धिः प्रयत्नतः ।
देशकालान्तरात्तत्र लोकभावमवेत्य च ॥१२८॥

अर्थ—वह नीचकर्म करनेवाला साधु भी विरक्त परिणाम धारण कर लेने पर देशान्तरमें और कालान्तरमें सम्यग्विधान-पूर्वक शुद्धिको प्राप्त हो सकता है। शुद्धिका विधान यह है कि प्रायश्चित्त प्रदान करनेवाला गणधर, प्रथम, जिस देशमें उसे प्रायश्चित्त दे वहांके लोगोंके परिणामोंको कि इस देशमें कोई

भी इसके दोष नहीं ग्रहण करता है इस प्रकार अच्छी तरह जान ले॥ १२८॥

शपथं कारयित्वाथ क्रियामपि विशेषतः।
बहूनि क्षमणान्यस्य देयानि गणधारिणा ॥१२९॥

अर्थ—अनन्तर उससे शपथ कराकर और विशेष विशेष प्रतिक्रमण कराकर उसको बहुतसे उपवास प्रायश्चित्त दे॥

द्रव्यं चेदस्तगं किंचिद्बंधुभ्यो विनिवेदयेत्।
तदास्याः षष्ठमुद्दिष्टं सोपस्थानं विशोधनं॥

अर्थ—यदि आर्यिकाके पास सोना, चांदी आदि कुछ भी द्रव्य हो और वह उस द्रव्यको अपने बंधुओंको देवे तो उस वक्त उसके लिए प्रतिक्रमण सहित षष्ठोपवास प्रायश्चित्त है॥

येन केनापि तल्लब्धं पुनर्द्रव्यं च किंचन।
वैयावृत्यं प्रकर्तव्यं भवेत्तेन प्रयत्नतः॥ १३१॥

अर्थ—जिस किसी भी उपायसे कुछ भी द्रव्य आर्यिकाको मिले तो उस द्रव्यसे धर्मात्माओंका प्रयत्नपूर्वक उपकार करना चाहिए। यही उसके लिए प्रायश्चित्त है॥ १३१॥

भ्रातरं पितरं मुक्त्वा चान्येनापि सधर्मणा।
स्थानगत्यादिकं कुर्यात् सधर्मा छेदभागपि॥

अर्थ—पिता और भाईको छोड़कर यदि आर्यिका अन्य पुरुषको जाने दोषिये साधर्मी गुरुभाईके साथ भी कायोत्सर्ग

मार्गगमनागमन, भयत्रास आदि करे तो वह आर्या भी प्राय-श्चित्तका भागी होता है। वह आर्यिका प्रायश्चित्तभागिनी हो इसका तो कहना ही क्या है। भावार्थ—पिता और भाईके साथ यदि आर्यिका कायोत्सर्गादि क्रिया करे तो उनमेंसे कोई भी प्रायश्चित्तके भागी नहीं है। इसके अलावा किसीके साथ भी आर्यिका कायोत्सर्गादि क्रिया करे तो जिसके साथ करे वह भी और जो करे वह भी सभी प्रायश्चित्तके भागी होते हैं॥ १३२॥

बहून् पक्षांश्च मासांश्च तस्या देया क्षमा भवेत्।
बलं भावं वयो ज्ञात्वा तथा सापि समाचरेत्॥

अर्थ—उस आर्यिकाकी शक्ति, उसका भाव और अवस्था जानकर उसे बहुतसे पक्षोपवास और मासोपवास प्रायश्चित्त देने चाहिए। उसी तरह वह आर्या भी उस दिये हुए प्रायश्चित्त-को आदर बुद्धिके साथ करे॥ १३३॥

क्षांत्या पुष्पं प्रवर्तन्त्या तद्दिनात् स्याच्चतुर्दिनं।
आचाम्लं नीरसाहारः कर्तव्या चाथवा क्षमा॥

अर्थ—आर्यिका जब रजस्वला हो जाय तब उस दिनसे लेकर चार दिन तक या तो कांजिक भोजन करे या नीरस भोजन करे या उपवास करे॥ १३४॥

तदा तस्याः समुद्दिष्टा मौनेनावश्यकक्रिया।
व्रतारोपः प्रकर्तव्यः पश्चाच्च गुरुसन्निधौ॥१३५॥

अर्थ—रजस्वलाके समय आर्यिका समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओंको मौनपूर्वक करे और शुद्ध हो जानेके पश्चात् गुरुके समीप जाकर व्रत ग्रहण करे॥१३५॥

स्नानं हि त्रिविधं प्रोक्तं तोयतो व्रतमंत्रतः।
तोयेन स्याद् गृहस्थानां साधूनां व्रतमंत्रतः॥

अर्थ—स्नान तीन प्रकारका कहा गया है जलस्नान, व्रतस्नान और मन्त्रस्नान। जलस्नान गृहस्थ करते हैं तथा व्रतस्नान और मंत्रस्नान साधु करते हैं। व्रतस्नान और मंत्रस्नान यह साधुओंकी परमार्थ शुद्धि है। परन्तु चांडाल आदिका स्पर्श हो जाने पर व्रतपालते हुए उनको जलसे भी व्यवहार शुद्धि करना चाहिए॥१३६॥

इस प्रकार आर्यिओंका प्रायश्चित्त कहकर श्रावकोंका प्रायश्चित्त कहते हैं:—

श्रमणच्छेदनं यच्च श्रावकाणां तदेव हि।
द्वयोरपि त्रयाणां च षण्णामर्धार्धहानितः॥१३७॥

अर्थ—जो प्रायश्चित्त साधुओंके लिए कहा गया है वही क्रमसे दो, तीन और छह श्रावकोंके लिए आधा आधा है। भावार्थ—श्रावक ग्यारह प्रकारके होते हैं। उनमेंसे उद्दिष्टत्यागी और अनुमतित्यागी इन दो उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए मुनियोंसे आधा प्रायश्चित्त है। परिग्रहत्यागी आरंभत्यागी और ब्रह्मचारी इन तीन मध्यम श्रावकोंके लिए उत्कृष्ट श्रावक

प्रायश्चित्तमें आधा प्रायश्चित्त है और दिवामैथुनत्यागी, सचित्त त्यागी, प्रोषधोपवास करनेवाला, सामायिक करनेवाला, व्रतिक और दार्शनिक इन छह जघन्य श्रावकोंके लिए उन मध्यम तीन श्रावकोंके प्रायश्चित्तमें आधा प्रायश्चित्त है ॥ १३७ ॥

केचिदाहुर्विशेषेण त्रिष्वप्येतेषु शोधनं ।
द्विभागोऽपि त्रिभागश्च चतुर्भागो यथाक्रमं ॥

अर्थ—कोई आचार्य इन तीनों तरहके श्रावकोंका प्रायश्चित्त दूसरीही तरहसे कहते हैं। वे कहते हैं कि साधु प्रायश्चित्तमें आधा प्रायश्चित्त तो उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए है। साधुके प्रायश्चित्तका ही तीसरा हिस्सा प्रायश्चित्त मध्यम श्रावकोंके लिए है और साधुके प्रायश्चित्तका ही चौथा हिस्सा प्रायश्चित्त जघन्य श्रावकोंके लिए है ॥ १३८ ॥

षण्णां स्याच्छ्रावकाणां तु पंचपातकसंन्निधौ ।
महामहो जिनेन्द्राणां विशेषेण विशोधनम् ॥

अर्थ—यद्यपि सभी श्रावकोंका प्रायश्चित्त ऊपर कह चुके हैं तो भी छह जघन्य श्रावकोंका प्रायश्चित्त और भी विशेष है सोही कहते हैं। गोवध, स्त्रीहत्या, बालघात, श्रावकविनाश और ऋषि-विघात ऐसे पांच पापोंके बन आने पर जघन्य श्रावकोंके लिए जिन भगवानका महामह करना यह विशेष प्रायश्चित्त है ॥१३९

आदावंते च षष्ठं स्यात् क्षमणान्येकविंशतिः ।
प्रमादाद्गोवधे शुद्धिः कर्तव्या शल्यवर्जितैः ॥

का है। स्त्रीवधसे दूना बालकके वधका है। बालकके वधसे दूना सामान्य मनुष्यके वधका है। एवं उससे दूना पाखंडोके वधका, उससे दूना लौकिक ब्राह्मणके वधका, उससे दूना संयतासंयतके वधका और उससे दूना निर्ग्रन्थ साधुके वधका है॥ १४३॥

कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां स्नपनं तेन च स्वयं।
स्नात्वोपध्यंवराद्यं च दानं देयं चतुर्विधं ॥१४४॥

अर्थ—उक्त प्रायश्चित्त कर लेनेके अनन्तर अर्हतोंकी पूजा और अभिषेक करे और उस अभिषेक जलसे स्वयं-आप स्नान करे तथा पुस्तक, कमंडलु, पिच्छी, वस्त्र, पात्र आदिका यथायोग्य दान दे और अभयदान, आहारदान, शास्त्रदान औषधदान यह चार प्रकारका दान भी दे॥ १४४॥

सुवर्णाद्यपि दातव्यं तदिच्छूनां यथोचितं।
शिरः क्षौरं च कर्तव्यं लोकचित्तजिघृक्षया॥

अर्थ—तथा सोना, चांदी, वस्त्र आदि चाहनेवालोंको यथोचित सोना, चांदी, वस्त्र आदि दे और सम्पूर्ण मनुष्योंका मन उसकी ओर अनुरक्त हो इस इच्छासे शिरके बाल भी मुंडावे। इतना प्रायश्चित्त कर अनन्तर घरमें प्रवेश करे॥१४५॥

क्षुद्रजंतुवधे क्षांतिः षष्ठमन्यव्रतच्युतौ।
गुणशिक्षाक्षतौ क्षान्तिर्दृग्ज्ञाने जिनपूजनं ॥१४६

अर्थ—दो इंद्रिय, तेइंद्रिय, और चौइंद्रिय इन क्षुद्र जंतुओं-

का विधान करने पर उपवास, सत्य अचौर्य, स्वदारसंतोष और परिग्रह परिमाणव्रतका भंग होने पर षष्ठ प्रायश्चित्त, गुणव्रत और शिक्षाव्रतमें क्षति पहुंचने पर उपवास प्रायश्चित्त तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें दोष लगने पर जिनपूजन प्राय-श्चित्त होता है। भावार्थ —सब व्रतोंके सब दोष पंसठ हैं सो ही कहते हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम अतीचार, अनाचार और अभोग ये पांच मूलदोष हैं इनका अर्थ जरद्गवन्यायसे कहते हैं। जरद्गव नाम बूढे बैलका है। जैसे कोई एक बूढा बैल अच्छा हराभरा धान्यका खेत देख कर उस खेतकी वृति (बाड़) के पास खड़ा हुआ उस धान्यके खानेकी इच्छा करता है सो अतिक्रम है। फिर बाड़के छिद्रमें मुख डालकर एक ग्रास लूं यह जो उसकी इच्छा है सो व्यतिक्रम है फिर खेतकी बाड़को उल्लंघ जाना अतीचार है फिर खेतमें जाकर एक ग्रास लेकर पुनः वापिस निकल आना अनाचार है तथा फिर भी खेतमें घुस कर निःशंक यथेष्ट भक्षण करना, खेतके मालिक द्वारा दण्डसे पिटना आदि अभोग है। इसी प्रकार व्रतादिकोंमें समझना चाहिए। प्रत्येक व्रतमें ये पांच पांच दोष पाये जा सकते हैं। ऊपर बारह व्रत और तीन अतिक्रम, व्यतिक्रम अतीचार अनाचार और अभोग इन पांच दोषोंको रखना चाहिए। इनकी संदृष्टि यह है —

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५

स्थूल कृत प्राणातिपातके अतिक्रम, व्यतिक्रम अतीचार अनाचार और अभोग इस तरह प्रथम अणुव्रतके पांच दोषरूप

हैं। इसी तरह बाकीके ग्यारह व्रतोंकी पांच पांच उच्चारणा होती हैं। सब व्रतों संबन्धी सम्पूर्ण उच्चारणा मिलकर साठ होती हैं। पांच मूल उच्चारणाओंको मिला देने पर सब उच्चारणा पैंसठ हो जाती हैं सो ये पैंसठ इन बारह व्रतोंके दोष हैं। इन दोषोंके लगने पर उक्त प्रायश्चित्त यथायोग्य समझना चाहिए ॥१४६॥

रेतोमूत्रपुरीषाणि मद्यमांसमधूनि च।
अभक्ष्यं भक्षयेत् षष्ठं दर्पतश्चेद् द्विषद्क्षमा ॥१४७

अर्थ—वीर्य, मूत्र, पुरीष (टट्टी) मद्य, मांस, मधु और अभक्ष्य—रुधिर, चर्म, हड्डी आदि यदि जघन्य श्रावक प्रमाद वश खाय तो षष्ठप्रायश्चित्त है। यदि अहंकारमें तन्मग्न होकर उक्त चीजोंको खाय तो बारह उपवास प्रायश्चित्त है ॥१४७॥

पंचोदुंबरसेवायां प्रमादेन विशोषणं।
चांडालकारुकाणां षडन्नपाननिषेवणे ॥१४८॥

अर्थ—अहंकार वश पांच उदुम्बर फलोंके खानेका प्रायश्चित्त बारह उपवास है और प्रमादवश खाय तो उपवास प्रायश्चित्त है तथा चांडाल आदिके यहां और धोबी आदि कारु शूद्रोंके यहां अन्न-पान सेवन करे तो छह उपवास प्रायश्चित्त है।

सद्योलंघि (वि)तगोधात वन्दीगृहसमाहतान्।
कृमिदष्टं च संस्पृश्य क्षमणानि षडश्नुते ॥१४९॥

अर्थ—रस्सी आदिसे बंधकर मरे हुए, गायके सींगोंके घातसे मरे हुए और कारागृह (जेलखाने) में बन्द कर देनेसे

मरे हुएको तथा जिसमें कृमि-जंतु पड़ गये हों, पीप बह रही हो ऐसे शरीरके घावको यदि छूवे तो वह जघन्य श्रावक छह उपवासोंको प्राप्त होता है। भावार्थ—उक्त प्रकारसे मरे हुएको और कृमिव्रतको छूनेका छह उपवास प्रायश्चित्त है ॥ १४९ ॥

सुतामातृभगिन्यादिचांडालीरभिगम्य च।
अश्नुवीतोपवासानां द्वात्रिंशतमसंशयं ॥१८०॥

अर्थ—अपनी पुत्री, माता, बहन, आदि शब्दसे मासी, सास, पुत्रभार्या आदिको और चांडाल भङ्गी आदिकी स्त्रियोंको सेवन करनेवाला संदेहरहित बत्तीस उपवासोंको प्राप्त होता है भावार्थ—पुत्री आदिके साथ व्यभिचार सेवनका बत्तीस उपवास प्रायश्चित्त है ॥

कारूणां भाजने भुक्ते पीतेऽथ मलशोधनं।
निशोपा पंच निर्दिष्टा छेददक्षैर्गणाधिपैः ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त शास्त्रके वक्ता आचार्योंने अभोज्य कारूओंके बरतनोंमें खाने और पीनेका प्रायश्चित्त पांच उपवास कहा है। भावार्थ—अभोज कारुओंका अर्थ आगे १५४ व श्लोकमें कहा जायगा। उनके बर्तनोंमें खाने-पीनेका पांच उपवास प्रायश्चित्त है ॥ १५१ ॥

जलानलप्रवेशेन भृगुपातान्छिशावपि।
बालसंन्यासमतः प्रेत मद्यः शौचं गृहिव्रते ॥

अर्थ—जलमें डूबकर, अग्निमें जलकर कहींसे भी गिरकर

मरने पर, बालकके मरने पर, और मिथ्यादृष्टि संन्याससे मरने पर गृहस्थ क्रमसे तत्काल शुद्ध है। भावार्थ - उक्त प्रकारसे यदि कोई स्वजन मर जाय तो गृहस्थोंको उसका सूतक नहीं है॥१५२॥

ब्राह्मण क्षत्रविट्छूद्रा दिनैः शुद्ध्यंति पंचभिः।
दशद्वादशभिः पक्षाद्यथासंख्यप्रयोगतः ॥१५३॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये मरने किसी स्वजनके मर जाने पर क्रमसे पांच दिन, दश दिन, बारह दिन और पंद्रह दिन बीत जानेसे शुद्ध होते हैं। भावार्थ—ब्राह्मण पांचदिनसे, क्षत्रिय दश दिनमें, वश्य बारह दिनमें और शूद्र पंद्रह दिनसे शुद्ध सूतकरहित होते हैं। यहां आचार्य संप्रदायका भेद मालूम पड़ता है—अन्य शास्त्रोंमें ब्राह्मणके लिए दशदिन और क्षत्रियोंके लिए पांच दिनका सूतक बताया गया है। अथवा उक्त पाठके स्थानमें "क्षत्रब्राह्मणविट्छूद्राः" ऐसा पाठ हो तो ठीक समानता बैठ जाती है। अस्तु, कई विषयोंमें आचार्योंका मतभेद पाया जाता है संभव है यहां भी वह हो॥

कारिणो द्विविधा सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदतः।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतं ॥१५४॥

अर्थ—शूद्र भोज्य और अभोज्यके भेदसे दो तरहके हैं। जिनके यहांका आहार-पानी ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र खाते-पीते हैं वे भोज्य कारु होते हैं इनसे विपरीत अर्थात् जिनका आहारपानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं खाते पीते वे

अभोज्य कारु हैं। इनमेंसे भोज्य कारुओं (भोज्य शूद्रों) को ही क्षुल्लक दीक्षा देनी चाहिए, अभोज्य शूद्रोंको नहीं ॥१५४॥

क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्न स्थितिभोजनं ।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥

अर्थ—क्षुल्लकोंके एक ही वस्त्र होता है, दूसरा नहीं। खड़े रहकर भोजन लेना भी उनके नहीं है। तथा आतापन, वृक्षमूल और अभ्रावकाश इन योगोंका भी क्षुल्लकोंके लिए निषेध है ॥

क्षौरं कुर्याच्च लोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने ।
कौपीनमात्रतंत्रोऽसौ क्षुल्लकः परिकीर्तितः ॥

अर्थ—क्षुल्लक छुरेसे मुंडन करे अथवा हाथोंसे बाल उपाड़े, वह हाथमें भोजन करे, अथवा पात्रमें, ऐसा कौपीनमात्रके अधीन क्षुल्लक कहा गया है। भावार्थ—क्षुल्लकके दो भेद हैं। उनमें पहला क्षुल्लक छुरेसे या कैंचीसे शिरका मुंडन करता है। बैठकर पात्रमें भोजन करता है, कमरमें कोपीन पहनता है। दूसरा क्षुल्लक हाथोंसे सिरके बाल उपाड़ता है, हाथमें ही बैठकर भोजन करता है, शास्त्रान्तरोंके अनुसार वह खड़ा रहकर भी भोजन कर सकता है और कमरमें सिर्फ कोपीन पहनता है। इसका दूसरा नाम आर्य है जिसको ऐलक कहते हैं। दोनों ही प्रकारके क्षुल्लक भोज्य शूद्रोंमें होते हैं ॥ १५६ ॥

सद्दृष्टिपुरुषाः शश्वल्लोभपाशाद्विनिर्गताः ।
लोभमोहादिभिर्मंदपण निनयति न ॥१५७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष हमेशह धर्मके उड्डाह—विनाशसे डरते रहते हैं इसलिए वे लोभ, मोह, द्वेष आदिके वश होकर कभी भी धर्ममें कलंक लगनेकी वांछा नहीं करते हैं ॥ १५७ ॥

प्रायश्चित्तं न यत्रोक्तं भावकालक्रियादिकं ।
गुरूद्दिष्टं विजानीयात् तत्प्रनालिकयानया ॥

अर्थ—भाव-परिणाम, काल—शीतकाल, उष्णकाल और साधारणकाल, क्रिया—सचित्त, अचित्त और मिश्रद्रव्यका प्रतिसेवन इत्यादि प्रायश्चित्त जो यहां नहीं कहा गया है उसको गुरु उपदेशके अनुसार इसी पद्धतिसे समझ लेना चाहिए ॥१५८

उपयोगाद्व्रतारोपात् पश्चात्तापात् प्रकाशनात् ।
पादांशार्धतया सर्वं पापं नश्येद्विरागतः ॥१५९॥

अर्थ - किसी अपराधके बन जानेपर उपयोग (सावधानी) रखनेसे, कोई न कोई व्रत लेलेनेसे, पश्चात्ताप करनेसे तथा अपना दोष दूसरेको कहनेसे वह अपराध चौथे हिस्से प्रमाण और आधा नष्ट हो जाता है। और विरक्त परिणामोंसे वो सबका सब नष्ट हो जाता है। भावार्थ—किया हुआ अपराध उक्त कारणोंसे चतुर्थ हिस्से प्रमाण, आधा अथवा सबका सब नष्ट हो जाता है ॥ १५९ ॥

अवद्ययोगविरतिपरिणामो विनिश्चयात् ।
प्रायश्चित्तं समुद्दिष्टमेतत्तु व्यवहारतः ॥ १६० ॥

अर्थ—निश्चयनयकी अपेक्षासे संपूर्ण सावद्ययोग—पाप-

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष हमेशह धर्मके उद्धार—विनाशसे डरते रहते हैं इसलिए वे लोभ, मोह, द्वेष आदिके वश होकर कभी भी धर्ममें कलंक लगनेकी वांछा नहीं करते हैं ॥ १५७ ॥

प्रायश्चित्तं न यत्रोक्तं भावकालक्रियादिकं।
गुरूद्दिष्टं विजानीयात् तत्प्रनालिकपानया ॥

अर्थ—भाव-परिणाम, काल—शीतकाल, उष्णकाल और साधारणकाल, क्रिया—सचित्त, अचित्त और मिश्रद्रव्यका प्रतिसेवन इत्यादि प्रायश्चित्त जो यहां नहीं कहा गया है उसको गुरु उपदेशके अनुसार इसी पद्धतिसे समझ लेना चाहिए ॥१५८॥

उपयोगाद्व्रतारोपात् पश्चात्तापात् प्रकाशनात्।
पादांशार्धतया सर्वं पापं नश्येद्विरागतः ॥१५९॥

अर्थ—किसी अपराधके बन जानेपर उपयोग (सावधानी) रखनेसे कोई न कोई व्रत लेनेसे, पश्चात्ताप करनेसे तथा अपना दोष दूसरेको कहनेसे वह अपराध चौथे हिस्से प्रमाण और आधा नष्ट हो जाता है। और विरक्त परिणामोंसे तो सबका सब नष्ट हो जाता है। भावार्थ—किया हुआ अपराध उक्त कारणोंसे चतुर्थ हिस्से प्रमाण, आधा अथवा सबका सब नष्ट हो जाता है ॥ १५९ ॥

अवश्यंभाविरागादिपरिणामो विनिश्चयात्।
प्रायश्चित्त समुद्दिष्टमनघं व्यवहारतः ॥ १६० ॥

अर्थ—निश्चयनयकी अपेक्षा अशुभ सावधान—राग-

यावंतः स्युः परीणामास्तावंति च्छेदनान्यपि।
प्रायश्चितं समर्थः को दातुं कर्तुमहो मते ॥१६३॥

अर्थ—जितने परिणाम हैं उतने ही प्रायश्चित्त हैं। इसप्रकार उतना प्रायश्चित्त न तो कोई देनेको समर्थ है और न कोई करने का समर्थ है ॥ १६३ ॥

प्रायश्चित्तमिदं सम्यग्युजानाः पुरुषाः परं।
लभंते निर्मलां कीर्ति सौख्यं स्वर्गापवर्गजं ॥

अर्थ—इस प्रायश्चित्तको अच्छी तरह करनेवाले पुरुष अग्रगण्य होते हैं, निर्मल कीर्तिको प्राप्त करते हैं और स्वर्ग और मोक्षसंबन्धी सुख भोगते हैं ॥ १६४ ॥

चूलिकासहितो लेशात् प्रायश्चित्तसमुच्चयः।
नानाचार्यमतानैक्याद्बोद्धुकामेन वर्णितः ॥

अर्थ—यह चूलिका सहित प्रायश्चित्त-समुच्चय नामका ग्रंथ अनेक आचार्योंके अनेक मतोंको एक रूपसे जाननेकी इच्छासे मैंने संक्षेपसे कहा है ॥ १६५ ॥

अज्ञानाद्यन्मया बद्धमागमस्य विरोधिकृत्।
तत्सर्वमागमाभिज्ञाः शोधयंतु विमत्सराः ॥१६६॥

अर्थ—अज्ञानवश जो मैंने परमागम, शब्दागम और युक्त्यागमसे विरुद्ध कहा हो उस सबको आगमके ज्ञाता आचार्य महोदय मत्सरभावोंसे रहित होते हुए शुद्ध करें।

इस तरह गुरुदास आचार्यकृत प्रायश्चित्त-समुच्चय और उसकी चूलिकाका नवीन हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।